chapter-5

अध्याय : ५

कुबेरनाथ के ललित निबंधों का अनुशीलन

प्रस्तावना

यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के बाद यदि कोई हमसे एक सशक्त, एवं प्रौढ़, परिपक्व चिन्तक, स्वातन्त्र एवं निष्पक्ष विचारक निबंधकार की मांग करें तो हम कुबेरनाथराय का नाम प्रस्तुत कर सकते हैं। उनके लिखे गए निबंधों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुबेरनाथराय ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और शिवप्रसाद सिंह द्वारा डाली परंपरा को आगे बढ़ाया है। अपने आत्म विश्वास और दृढ़ मनोबल के कारण न केवल ललित निबंध क्षेत्र में बल्कि समूची हिंदी निबंध परम्परा में वे अपना कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। वे हिन्दी ललित निबंधों के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार माने जाते हैं। उनको हिन्दी गद्य साहित्य में ललित निबंध नामक विधा का श्रृंगार करने वाले एकमात्र साहित्यकार कहा गया है। श्री कुबेरनाथराय जी ने अभी तक हिन्दी को आठ निबंध संग्रह देकर विपुल परिमाण में हिन्दी निबंध साहित्य वै को वैभव सम्पन्न किया है और साथ ही कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा शैलीकारिता के क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित किया है। उनका लेखन इतना विविध आयामी है और विषय-फलक इतना व्यापक है कि उसे भिन्न-भिन्न विषय सारणियों में विभक्त करना बहुत कठिन कार्य है। निबंधों में उनका चिन्तन खुले दिमाग से किया गया चिन्तन है, और वह किसी भी वाद से जुड़ा हुआ नहीं है। निबंधों में पदे पदे-कुबेरनाथ जी की भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था दिखाई पड़ती है। इनके सभी निबंधों में उनका विचारक, विवेचक, और विश्लेषक रूप सामने आया है। उन्होंने जब से अपनी लेखनी उठायी वे निरन्तर ललित निबंध ही लिखते रहे।

विषय-वस्तु :

सांस्कृतिक :

'अवर वत्रेता प्रतीक्षारत प्रतीक्षारत धनुष'[१] शीर्षक निबंधानुसार परसाल नहीं- परियाल साल की बात की गई है, गांव के इतिहास में पंचायत चुनाव में पहलीबार अहीर सभापति बना था। गांव के लोगों ने प्रस्ताव किया कि अब छोटी

जातियों के लड़के भी राम-लक्ष्मण और हनुमान बनने चाहिए। अन्त में भारतीय चिन्तन में चिरपरिचित मध्यममार्ग पर समझौता हुआ कि विजयादशमी के दिन राम लक्ष्मण हनुमान द्विजवर्ण की संतानें बनेंगी। हमारे पुराणों में उत्तरभारत को ही त्रेता द्वापर दोनों का लीला मंच माना गया है। भारतीय साहित्य की वीरगाथा काव्य में सनातन विजय का उद्घोष है। अयोध्या देवी मनमन में निवास करनेवाली अनास्था और निराशा से जूझने वाला अन्तश्चेतना का प्रतीक है। इसी से त्रेता भारतीय साहित्य में शुद्धतम वीररस का प्रतीक है, हमारे अंदर का 'त्रेताभाव' शक्ति का अतुल भंडार है। लगता है हृदय के अंधकार में त्रेता का पुरातन तेजस्वी जन्म ले रहा है, जहां कहीं भी तेज है, दृढ़ता है, अपराजित हृदय है, पवित्रता और न्याय की रक्षा के लिए बांहें धनुष चढ़ा रही हैं, वहां-वहां शरसन्धान के लिए उन्नत उदात्त शीर्ष नेता के दर्शन होते हैं। विधाता ने अपनी तीन अंगुलियां फेरकर अग्नि त्रिपुण्ड अंकित कर दिया है। यह त्रेता अपने उदात्त रूप में भारत में मरा नहीं है। यह अतीत का अंश होते हुए भी प्राणवान है। सनातन काल के पैटर्न में सोचने पर प्रत्येक बिन्दु में भूत-भविष्य और वर्तमान साथ-साथ संयुक्त रहते हैं, कालचक्र की गति दुहरी है रेखागत और बिन्दुगत। यह रेखा कई बिन्दुओं का संगठन मात्र है और प्रत्येक बिन्दु पर काल अखण्ड सनातन रूप में मौजूद है, खण्ड रूप में नहीं। वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित क्रान्तियों का फल तथ्यत: उनकी पराजय ही हुआ है। हाट-बाट, ट्राम-बस, दिल्ली-कलकत्ता, गाजीपुर-बनारस की गलियों में विकृत त्रेता और शुद्ध त्रेता दोनों को देखा है। जब कभी वर्तमान का मुखौटा भूल से सरक जाता है, तो त्रेता का तेजदीप्त त्रिपुण्डधारी ललाट, द्वापर की खमदार भौंहें और खंजन नयन ~~तथा त्रिपुण्डधारी~~ अनागत का सरल, कुण्ठाहीन और ताजी नयी हंसी से भरा हुआ कैशोरमुख झलक जाता है। ध्वनि और ताल के सामंजस्य से ~~बाल्मि~~ बाल्मिकि जन्म ले रहा है। वाल्मीकि के कंधे पर सवारी करते हुए साक्षात् निराला जी दशों दिशाओं में प्रकट हो रहे हैं। लगता है आसमान में कालपुरुष गांजे के नशे में लालधुत होकर सनातन कुमारिका, साथ ही सनातन प्रसविनी धरतीवधू के प्रति

एक रसपूर्ण 'जोगीड़ा' ललकार भरे स्वर में बोल रहा है । संभवत: यह नयी छबि उसके कौमार्यभंग की भूमिका है ।

'व्यथा तीर्थ'[2] शीर्षक निबंधानुसार भगवान के ऐश्वर्य का दूसरा दिक् भी है वैष्णव प्रधानत: प्रेम समुद्र में गोता लगाकर निहाल होता रहता है और ईसाई - करुणासागर में डुबकी लगाने का आदी है । भगवान करुणामय है यह तो उनके आराधक भी जानते हैं । वे यह नहीं जानते कि यह भी हमारे प्रेम का भूखा है । वह हमारे प्यार का भूखा रहता है और डबडबायी करुणामय आंखों से ताकता रहता है । मसीहे के चेहरे का आलोक कुछ और है, जिस प्रकार बुद्ध का माया तनु तप:पूत, योगाचार पुष्ट और भुवन विजयी है। वैसा मसीहा के माया तनु के बारे में घटित नहीं होता । मसीहा का सम्पूर्ण चरित्र करुण, मधुर, बाष्पाच्छन्न अद्भुत जैसा रह जाता है । उसके विविध कोण और कटाव स्पष्ट नहीं हो पाते - हमारा शरीर तो अलग, अगाध, अनादि, अनन्त, असीम है। इसके अतिरिक्त वह महारहस्य होते हुए भी हमारे अति निकट है जैसे तरंग और समुद्र । वह कभी महिमा में पहचाना जाता है, तो कभी अणिमा में, परंतु प्रत्येक अवस्था में यह पहचान एक सहस्त्रदल की सुगंध की तरह अनुभवगम्य रह जाती है । ईश्वर या उसका कोई भी अवतार मानवीय तर्कबुद्धि या इतिहास जिज्ञासा का विषय नहीं बनाया जा सकता । शब्दार्थ के तीन स्तर होते हैं और घटना का एक अभिधार्थ। किसी भी काल या किसी भी समाज व्यवस्था में शील, सदाचार, चारित्रिक सौन्दर्य और धर्म-अधर्म की रामायण प्रतिपादित मूल्य परंपरा बासी या मिथ्या नहीं हो सकती । यीशु की भावमूर्ति ईश्वर की चरम करुणा का प्रतीक है । यीशु का एक बिरुद है क्राईस्ट । ईसाई संस्कृति में अभिषेक का अर्थ होता है तैलतिलक, यीशुख्रीस्ट ईश्वरीय करुणा का और ईश्वरीय प्रेम का धारक पात्र है । ईसाई धर्म का चरमबोध ईश्वर के प्रति एक आर्त डबडबायी भावना का बोध है। और इसे हम यीशु के जीवन के माध्यम से ग्रहण करते हैं । मनुष्य और देवता दो भिन्न जातियां हैं । यीशु उस देवता की तरह है जिसका एक-एक आंसू हजार-हजार हृदयों में

HANSA MEHTA LIBRARY

पुनरावतार लेकर उसको निर्मल, निर्विकार, स्नेक रोगशोक मुक्त कर देता है।

'ईस्टर मधुमय ईस्टर'[3] शीर्षक निबंधानुसार तरुणाई तो संध्या को टहलती है। निबंधकार असम की एक नदी के कगार पर किनारे-किनारे चल रहा था। नदी वक्ष पर माछराड़ा और बगुले कलाबाजी खेल रहे थे। और घास में चुपचाप दो नन्हें-नन्हें खरगोश बैठे हुए हैं। सिकुड़कर गोलमटोल हो गए हैं। उनके लंबे कान रह-रहकर हरकत कर रहे हैं, सुबह की धूप में स्नान करती हुई उनकी देह अपूर्व मखमली आभा से चमक रही थी। उनका गोल मुख, उनके लाल होंठ, टुकुर-टुकुर ताकतीं आँखें यह 'जनमतुआ' मानवशिशु के चेहरे जैसा निष्पाप और सरल लगता है। उगते चन्द्रमा के चेहरे में खरगोश जैसी आकृति का बोध होने के कारण ही चन्द्र को 'शशि' या शशलक्ष्म' कहा गया है। खरगोश का ताजा खून इतना सुरम्य लाल होता है कि कवियों ने इसके वर्ण की तुलना रक्त चंदन से की है। पता नहीं किस अदृश्य किरात के धनुष से यह क्रूर बाण सबेरे-सबेरे ही छूटा और वातावरण को पापविद्ध कर गया। दयामयी प्रकृति माँ विश्वंभरा जननी धरती का यह अबोध शिशु अकारण ही मारा गया। यह भिन्न युग धर्म का काल है। इसमें न तो किसी फरियाद के लिए जगह है और न किसी कंबुकंठ गोहार के लिए। आज के अनुभव के संदर्भ में यह भी संयोग की बात है कि देव शिशु यीशु के अनेक प्रतीकों में इस अबोध ममता और खरगोश भी आते हैं। विशेषत: ईस्टर के उत्सव में इस शशक मिथक का अद्भुत सम्बंध है। और इसे पवित्र चिन्ह मानकर अंकित किया जाता है। आज भी चंद्रमा में बैठे हुए उस पवित्र शशक का दर्शन कर सकते हैं। यह सब ईस्टर की 'ठेठ ईसाई परंपरा' का नहीं यत्र-तत्र की लोकायत परंपरा का अंग है। पंडित गण कहते हैं कि ईस्टर उत्सव से शशक प्रतीक जुड़ने का कारण मिस्त्री-सामी प्रभाव है। बसंत संपात अर्थात् इक्कीस मार्च के बाद जो पूर्णिमा पड़ती है, उसके ठीक बाद आनेवाला शुक्रवार है शुभ शुक्रवार इसी दिन यीशु को सलीब पर चढ़ाया गया था और इसी दिन मृत देह का दफन हुआ था। इसके तीसरे दिन ईसाई विश्वास के अनुसार

यीशु का शव कब्र फाड़कर सदेह आकाश मंडल में उपर गमन कर गया । वह दिन पड़ता है रविवार । और इसी दिन इस घटना के उपलक्ष्य में ईसाई जगत ईस्टर का उत्सव मनाता है । यीशु मानवीय यात्रा बोध का दिव्य रूप है, और महाशक्तिशाली रूप है । यह त्यौहार ईसाई धर्म से भी पुराना है । अपने मौलिक रूप में यह मध्य यूरोप का वसंत उत्सव है । ईस्टर शब्द के मूल में है टयूनानिक आर्यभाषा का एक शब्द 'ओस्तेर' या 'ओस्त्रा' जिसका अर्थ होता है वसंत की देवी । सेमेटिक जातियों में चन्द्रमा की ऐसी ही महिमा है। इसकी आकृति में 'शशक'(खरगोश) का वास है । ईसाई धर्म का मूल है आत्मदान, प्रेम और भक्ति । इन तीनों तत्वों को यीशु ने अपने उदार जीवन के माध्यम से व्यक्त किया है ।

'घोड़े-घोड़े अरुणवर्ण घोड़े'[४] शीर्षक निबंध में धरती जब तरुण थी तब की बात है । प्रकृति वर्णन करते हुए बताया है कि स्तब्ध हरीतिमा और शांत-नीलिमा का अखण्ड साम्राज्य था । धरती वय: संधि को पारकर चुकी थी और तरुणाई के फल पत्ते सावजश्वापद उसके अंग-अंग में विकसित हो चुका था शहद जैसा सुनहला प्रात: सूर्य स्वादिष्ट मधुमय सूर्य । बच्चे,बूढ़े सभी उल्लसित होकर इसका दर्शन करने के लिए निकल पडते हैं । घोड़ा सृष्टि का अत्यन्त प्रियदर्शन पशु है । कहा गया है कि नारी, आग और अश्व इन तीनों का मुख यज्ञमुख हैं कभी भी झूठा या अपवित्र नहीं होता । पशु जगत में सिंह, हाथी, वृषभ, अश्व और मृग ये पांच सुन्दरतर माने जाते हैं । इनमें सर्वाधिक, समानुपात सुडौल तथा छन्दोबद्ध शरीर अश्व को ही मिला है । यही परमाप्रकृति के रूप का धीरोदात्त और ब धीरललित वाहन है । सारी ऋग्वैदिक कविता ही अश्व के हिनहिनाते, लगाम चबाते, सौन्दर्य मय धावमान बिम्बों से भरी पड़ी हैं । परन्तु सिंह, साधारण हिरण और अश्व तीनों का धावमान वेग समान माना गया है । अश्व की शौर्यमयी भूमिका का सूत्रपात होता है ऋग्वेद से ही । पशु के रूप में अश्व की कल्पना ऋग्वेद में बार-बार आयी है । पौराणिक काल कृषि सभ्यता का काल है, अत: अश्व के स्थान पर गौ और वृषभ महत्वपूर्ण हो जाते हैं

परन्तु ऋग्वैदिक युग आर्यों की दिग्विजय का काल है अत: अश्व का प्रचुर प्राधान्य है। घोड़ा मूलत: आर्यों का पशु है। भारत ही नहीं संसार में घोड़ों को पालतू बनाने का श्रेय आर्यों को है। प्रागैतिहासिक एवं जीव विज्ञान के विशेषज्ञों के कथनानुसार यह जात प्रथम, उत्तरी अमेरिका के अलास्का अंचल में जन्मा था। वहां से इसका बीज रूप जो अपने मूलरूप में श्वान के बराबर था, विकसित और वर्धमान होता हुआ सायबेरिया तुर्किस्तान होते हुए भारत के आदिम, शिवालिक अंचल मेंपहुंचा। यह आर्यों के जययात्रा का वाहन ही बन गया। शताब्दी दर शताब्दी धावमान ये घोड़े जीवन और जिजीविषा के प्रतीक हैं। ये सारे के सारे घोड़े मानुषी इच्छाओं के साधारण या 'महासाधारण' प्रतिरूप अश्व है। प्राचीन आदिम समाज में लोकतंत्र था - आज फिर लोकतंत्र लौट आया है। परंतु वर्तमान अर्थ व्यवस्था, उत्पादन पद्धति, समाज व्यवस्था और भोगायतन को पुन: आदिम समाज की ओर ठेला नहीं जा सकता। प्रत्येक चक्र के भीतर प्रकृति स्थिति, विकृति का पैटर्न चलता रहेगा और पृथ्वी की दुहरी गति की तरह इतिहास भी अपनी इस दुहरी गति पर चालू रहेगा।

'स्नान एक सहस्त्र शीर्षा अनुभव'[5] शीर्षक निबंधानुसार स्नान के महत्व को समझाया गया है। भारतीय संस्कृति और अन्य संस्कृति में स्नान का अलग-अलग रूप भी बताया गया है। स्नान के अंतर्गत जल के अलग-अलग प्रकार भी बताये हैं। जल की सगुण और साकार सत्ता में आता है मृगजल, जो रूपतृषा का धोखेबाज भ्रमजल है। फिर आता है अश्रुजल, पर इन सारे जलों से महत्वपूर्ण साक्षात् जीवन स्वरूप सृष्टि जन्म सहोदर एवं प्राण सहोदर जो जल है वह अपना स्थूल जल जिसे हम पादप्रक्षालन-प्रोक्षण और स्नान के लिए प्रतिदिन व्यवहृत करते हैं। अत: स्नान चाहे मन्त्राभिषिक्त अभिषेक हो या दैनिक लोटा-बाल्टीवाला या बाथरूमस्थ मज्जन मार्जन हो या बहती नदी में जल का मन्थन करते हुए वीरोपम अवगाहन हो। हरेक स्थिति में लगता है कि मन रजोमुक्त हो रहा है। हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है जहां स्नान को भोग और श्रृंगार तो माना ही गया है। धर्म और तपस्या भी माना गया है। इस तरह जो सौंदर्य

को उद्घाटित करता है । यहां पर तीर्थयात्रा माने स्नानयात्रा और पर्व माने स्नान पर्व । इस स्नान प्रेम का मूल उद्गम वर्तमान भारतीय जाति की आदि संस्कृति निषाद संस्कृति में है । स्नान की कला इस देश में कितनी उन्नत और कितनी लोकप्रिय थी इसका अन्दाज हम मोहनजोदडो और हडप्पा के ईसापूर्व दो शहस्त्र पुराने स्नानागारों को देखकर कर सकते हैं । इस तरह हवन,तीर्थ, कीर्तन,दर्शन के चार पहियों पर हिन्दू धर्म की बैलगाड़ी चल पड़ी है । कर्मकाण्ड और वैधक में तरह-तरह के अवसरों पर तरह-तरह के स्नानों का वर्णन है । पर सबसे अजीब है गौड़ीय वैष्णावों का वय:संधि पर चढ़ी नायिका के मन और देह का पयस स्नान । स्नान को प्रत्येक सभ्य जाति द्वारा आवश्यक और महत्वपूर्ण दैनिकी कर्म माना गया है । भारत के मुगल भी स्नान के बड़े शौकीन थे । `देहवल्कल`[6] निबंधानुसार हमारे यहां वल्कल पहनकर वन `वरुणा` अर्थात् जंगल में यज्ञोपवीत संस्कार की प्रथा है । वल्कल वसन यानी पेड़ की छाल का वस्त्र । असम की कुछ जनजातियों में केले के पत्ते का अधोवस्त्र देखा जाता है । वल्कल वसन शब्द का प्रयोग संपूर्ण सज्जा के लिए, वृक्षावल्कल का अधोवस्त्र और देहवल्कल ऊर्ध्ववस्त्र दोनों के लिए होता था । जब तक सृष्टि है, जब तक जन्म-मरण है तब तक एकमात्र वरणीय यही सृष्टि और उसके रूप रस गन्ध के अनेक बहुरंगी वल्कल ही है । दर्शन के मतानुसार यह देह या शरीर एक वरणीय या अवरणीय वल्कल मात्र है । वल्कल या परिधान को देखकर पहननेवालों की सत्ता का अनुभव होता है । वैसे ही यह सगुण दृश्यमान जगत्, ये फूल, ये बच्चे, ये नारियां,ये मनुष्य, ये पेड पल्लव, ये कोमल मृग, ये चक्रव्याघ्र ये कुरुप कुत्सित सर्प सभी के सभी केवल उस चरम सत्ता का परिधान मात्र है । पर परिधान उस सत्ता के प्रगाढ़ सान्निध्य के कारण उसकी व्यक्तिवाचक सत्ता का अंग बन गया है ।

`वेणुकीचक`[7] शीर्षक निबंधानुसार पानी में रहकर मगर से और धरती पर रहकर बांस से बैर करने में खैर नहीं । यहां पर बांस के जंगलों का उल्लेख किया गया है। जैसे जैसे संध्या निकट आने लगती है वैसे-वैसे बांस वन का चेहरा बदलने लगता है । मनुष्य

अब भी आरण्यक है । वह अद्वैत के आकर्षण से पीड़ित रहता है और उसका स्वभाव ही है कि वह द्वैत के आकर्षण से सदैव ही बद्ध रहेगा । बांस हमारे आरण्यक जीवन का मृत नहीं बल्कि जीवन्त मुखर स्मारक है । यदि राष्ट्रीय घास चुनने का प्रस्ताव आये तो दो ही सार्थक नाम हैं, या तो सबसे नन्हीं-मुन्हीं दूब नहीं तो नंग-धड़ंग लम्बवत् विशाल विरोपम बांस । वंशी और लाठी-वेणु और कीचक ये दोनों बांस की सर्वश्रेष्ठ सन्तानें हैं । ये दोनों बांस की अपर संज्ञाएं भी हैं । यह लाठी भोजपुरी संस्कृति की वैसी ही प्रतीक है जैसे बंग संस्कृति के प्रतीक हैं `छाजा-बाजा-केश` असमिया संस्कृति के प्रतीक हैं ताम्बूल और मेखला, सिक्ख संस्कृति के प्रतीक है दाढ़ी और कृपाण। श्रीकृष्ण के हाथ में लाठी नहीं वंशी है, पर उससे क्या होता है। एक जमाना था कि जिसकी लाठी उसकी भैंस- पर आजका हिन्दुस्तान दो कदम और भीतर धंस गया है और आज है जिसकी लाठी उसकी भैंस के साथ-साथ गरीब भैंसवाला भी ।

`फागुनडोम`[8] शीर्षक निबंध में भारतीय संस्कृति में `बांस की एक संज्ञा है महातृण` बिना आम्रराजी और बांसवन के बस्ती का रूप विधवा जैसा लगता है । दूर से देखने पर इन बांस बनों का रूप विन्यास अत्यन्त नयनाभिराम और छंदोबद्ध लगता है पर भीतर प्रवेश करने पर इसका अनुभव कुछ और है । फागुनडोम को बांसवन के एकांत में बसनेवाले प्राचीन आरण्यक राजकुल के उत्तराधिकारी बताया है । डोम अरण्य का राजा होता है और डोमिन अरण्य की रानी । डोम हमारे हिन्दू समाज का अति निकृष्टतर प्राणी है, विवाह के अवसर पर सिन्दूरदान से पूर्व `डालपूजा`होती है, `डाल` का आज अर्थ लगाते हैं कन्या को प्रदत्त वस्त्राभूषणादि से परन्तु अपने मौलिक अर्थ में यह डोम द्वारा शिल्पित बांस की डालियां या डाल मात्र है । भारतीय संस्कृति अपने मौलिक रूप में किसी को उपेक्षित या हीन नहीं समझती और सबका देशकाल के अनुसार महत्वपूर्ण भूमिका निश्चित है । मनुष्य चाहे व्यक्ति हो या समूह एक सजीव सत्ता है । उसकी आंतरिक सजीवता तभी तक क्षमतावान रहती है जब तक उसे

स्वतंत्र ईकाई के रूप में जीने का अवसर प्राप्त होता है । भारतीय संस्कृति की मानसिक और आत्मिक समृद्धि का कारण यही है कि इसमें प्रत्येक इकाई को स्वतंत्र सत्ता के रूप में जीने का यथासंभव अवसर है और प्रत्येक इकाई की विशिष्टता को अन्य इकाइयों ने परस्पर बांटकर ग्रहण की है । उर्दू संस्कृति हमारे अतीत को अस्वीकार करती ही है हमारे वर्तमान को भी हमारी चालू प्राणवान लोकसंस्कृति उपेक्षणीय मानकर चलती है । निरन्तर परिश्रमरत परंतु अशिक्षित और अपमानित डोम की जीवन शैली में भी निबंधकार को कभी विचारों और अनुभूतियों के शुद्ध हीरक खण्ड दिखाई पड़ते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं । उनकी कलाप्रतिभा, उनके निजी शिल्प में भी उभरती है। वे पंखे, बेनी आदि बुनते समय डाली या डगरी का `भंडेरा` बांधते समय, बांस की रंगीन सीकों और बत्तियों से मोर-बतख आदि सफाई के साथ इतनी तेजी से पांत पर पांत बना देते हैं कि देखनेवाला दंग रह जाये । बांस की चटाई में वे हनुमान जी, गणेश जी तथा महात्मा गांधी की आकृतियों को ऐसे बुन देते हैं कि आधुनिक कला की आकृति से विश्लेषण प्रधान शैली के शिक्षित कलाकार दंग रह जाये । `कैक्टसवन की नायिका`[६] निबंधानुसार कैक्टस वन का वर्णन किया गया है । यह वनस्पति तो आदिमतर, आकृतिमुक्त एवं घिनौनी सरीसृप स्त्रष्टि की आवासभूमि है और यह भी एक आकृति मुक्त शैली में बढ़ती है । भारत वर्ष में जन-साधारण कैक्टस की दो जातियों से ही मुख्य रूप से परिचित है । प्रथम है नागफनी या फणीमनसा और दूसरा है सेहुड़ या सीजूमनसा । संस्कृत में इसे स्नूहीवृक्ष, व्रजपुम, और व्रजी कहते हैं । इसका उपयोग दवाओं,टोने-टोटके आदि में होता है अमेरिका एवं अफ्रीका की विविध जातियों में भी कैक्टसों को इसी भांति धार्मिक महत्व प्राप्त है । केतकी भी कैक्टस जाति का ही वृक्ष है । केतकी की सुगंध एवं वृक्ष की कंटीली सघनता दोनों के कारण देखा जाता है कि- केतकी की जड़ों में सर्पों का निवास प्राय: रहता है । भारत में आदिम अरण्य अब नहीं है, परंतु अफ्रीका और अमेरिका के कुछ तमसाच्छन्न क्षेत्रों में अब भी सृष्टि का आदिम और तमोगुणी चेहरा विद्यमान है । सर्पकुल की देवी है मनसा । सृष्टि की आदिम बेडौल आकृति हीन वनस्पति कैक्टस एवं सृष्टि का सर्वाधिक घिनौना

एवं सर्वाधिक भयंकर जीव सर्प ये दोनों इस देवी के प्रियपात्र हैं । आज हमारे मानस में एक `डेथविश` अर्थात् मरणोन्मुखी वृत्तियों के प्रति रूमानी लगाव अति सक्रिय है । बिहुल गाथा पर लोकभाषा में एक पुराण `पदमापुराण` लिखा गया है और जैसे-जैसे कथापूर्व बढ़ती गयी इस पर तरह-तरह के रंग चढ़ते गये ।

`पान तम्बूल`[१०] शीर्षक निबंधानुसार `चौरसिया` शब्द की व्याख्या करते हुए कत्था, चूना, सुपारी-पान इन चार रसों के कलाकार को `चार-या चौरसिया` कहते हैं । इसी चौरसिया वंश की वाटिका में `नागवेली या `नागपल्ली` जिसके वर्ण को पान कहते हैं- यह प्रथम नागलोक क से आयी, ये पान तो हमारी भारतीय संस्कृति में देवता माना गया । वैदिक साहित्य में न तो कहीं पान-सुपारी की चर्चा है और न फूल - चन्दन की । आर्यों ने इनको निषाद,द्राविड़,किरात संस्कृतियों से ग्रहण किया है । पान-सुपारी का प्रयोग भारतवर्ष , दक्षिणमोट देश, दक्षिण चीन, बर्मा, श्याम, कम्बोज, चम्पा,इण्डोनेशिया,मलय,माईक्रोनेशिया और न्यूगिनी तक ही सीमित है । वैदिक और साहित्यिक दोनों परंपराओं से ताम्बूल की लता अर्थात् नागपल्ली का सम्बन्ध, नागों से है । वास्तव में पान के लिए पूरा शब्द है, ताम्बूल पर्ण`, सुपारी के लिए पूरा शब्द है`ताम्बूल फल`, यों इन सारे सन्दर्भों में `ताम्बूल` का अर्थ `पान` न होकर`पान-सुपारी` बीटक अथवा अकेले सुपारी होता है । एक ही `आमोल` को दो भागों में काटकर परस्पर बांटना जीवन के परस्पर सहयोग का आमंत्रण है ।`रात्रि-चर`[११] शीर्षक निबंधानुसार रात के हृदय मेंएक स्वादिष्ट वारुणी है। जिसे कवि, योगी, व्यभिचारी और चोर ही ठीक से जान पाते हैं । व्यभिचारी और चोर रात्रि के विशेषत: काली रात के नशे में आविष्ट होकर अपना अपना अभिसार या अभियान करते हैं । हम जो मनुष्य हैं, हमें कर्म करने के लिए दूध और मधु से भरा दिवस मिला है । चोर का निशा अभियान एक अपकर्म ही है । चोर एक ओर अभिसारक का सखा है तो दूसरी ओर सांप श्वापदों का मौसेराभाई । चाहे सुकर्म हो या अपकर्म, प्रथम श्रेणी का कुछ भी करना या होना महद्

आराधन ही है । चोरी, अपकीर्ति के बावजूद एक कला थी और उसका अपना एक निजी शास्त्र था । जिसकी एक विकसित गुरु परंपरा थी । कई मुनियों ने दिमाग खर्च करके इस विद्या को प्रौढ़ और अनुशासित किया था । सचमुच ही यज्ञोपवीत प्रत्येक कर्मयोगी के लिए बड़ा उपयोगी है । चाहे वह कर्मयोग उजला हो या काला, प्रत्येक कर्म कर्म है । और किसी कर्म को, `कर्मयोग` या `कलायोग` के स्तर पर उठा ले जाने पर वह श्लील और अश्लील द्वन्द से परे हो जाता है और वहब्राह्मणोचित हो जाता है । स्वानुभूत रसास्वादन को बांटना ही तो साहित्यकार का कर्म है । चोरी में अभिसारक प्रेमी जैसी धीरता चाहिए । रात स्वयं एक जीवंत चरित्र बनकर इशारे करती है, पत्ते खड़खड़ाती है, श्रृंगार स्वर द्वारा समय का ईशारा करती है इसी से लगता है चोरी का वातावरण ही बड़ा काव्यमय है । चोर-एक ट्रैजिक चरित्र नहीं, वह भावुकताहीन एवं व्यंग्यपूर्ण कॉमेडी का नायक है । अपने- अपने अखाड़े में उतरने पर सधा हुआ चोर और सधी हुई वेश्या दोनों गोस्वामी अर्थात् जितेन्द्रिय बन जाते हैं। वास्तव में मंत्र,जादू,टोना -टोटका अपने में कोई अर्थ नहीं रखते । केवल इनका मनोवैज्ञानिक महत्व है । संक्षेपत: प्रत्येक कला की शैली व्यक्ति सापेक्ष होती है चाहे वह काव्य हो या चोरी ।

`महीमाता`[१२] शीर्षक निबंधानुसार भारतीय संस्कृति में नदी`माता` का स्थान पाती है । हमारा भारत देश प्राकृतिक सौन्दर्य से भरा हुआ देश है जिसमें अनेक नदियां,पर्वतों, सरोवरों का समावेश होता है एक और प्रकृति की आदिम शक्तियों के अनुकरण में मनुष्य की मनुष्य से लुब्ध कामना की लड़ाई चल रही थी। दूसरी और हम परस्पर एक दूसरे के मन-मस्तिष्क को आत्मसात कर रहे थे । उदात्त कविता भूमाका का आवेग है। ऋता की अभिव्यक्ति है । उदात्त विचार अर्थात् भ्रमा और ऋत । बिना उदात्त सभ्यता के संभव नहीं । अथर्ववेद के अनेक अंश आदिम निषाद कवियों की प्रतिभा के दान है । निषाद या मातृसत्ता प्रधान समाज का जीव । विद्या और यश

को जीवित रखने के लिए एक परम्परा या सम सम्प्रदाय आवश्यक है । सरोरुह पाद कबीर से किसी माने में कम प्रगतिशील नहीं परंतु संप्रदाय के अभाव में उनका नाम और उनकी विद्या तालपत्रों में संचित है । आदिम अरण्यानी के घनघोर हृदय में बैठकर महीदास में जीवन की नानागतियों, प्रकृति के नाना रूपों को पढ़ा देखा सुना । धरती को यहां आद्याशक्ति या परमाप्रकृति के साथ समीकृत कर दिया गया है । कुछ बिम्ब ऐसे हैं जो धरती के दात्री और धात्री रूप को स्पष्ट करते हैं । आर्यों के आगमन के पूर्व निषादवधुओं ने गंगातट की बस्तियों में फसल और उर्वरता की देवी के रूप में धरित्री की पूजा की थी । लता या पल्लरी नारीत्व का प्रतीक है । आदिम द्राविड और आदिम निषाद महीमाता का उपासक था तो आदिम आर्य पिता `आकाश का` निषाद मातृसत्ता प्रधान समाज का अंग था अत: धरती, अरण्यानी, हिमानी, आदि की प्रतीक मातृ देवताएं उसकी कल्पना से प्रसूत हैं । यह लाल काली मिट्टी का भारत हमारी आंखों के सामने फाख-फंखाड़ बनों और `ट्रापिकल` बनबले घनघोर कान्तारों से युक्त होकर एक तमालवाली वनराजि लीला का रूप उपस्थित करता है । यहां की लाल मिट्टी पहाड़, सालवन, उलफी लताएं, एवं श्यामवर्ण जनजातियों ये पांचों मिलकर एक अपूर्व वर्ण रचना उपस्थित करते हैं । इन्हीं के मध्य भारत की लोक संस्कृति की स्वभाव मणि या चिंतामणि निहित है । `गंगं गच्छति गंगा`[13] शीर्षक निबंध में गंगा नदी को वर्णित किया गया है । गंगा जो मुख से निकलती है और इसका स्वभाव एवं चरित्र भी पयस्वला धेनु की तरह है जो अपने बछड़े के लिए रंभाती और दौड़ती घर को लौट रही है । यह बछड़ा और कोई नहीं भारतवर्ष ही है । आर्यों ने `सरस्वती` की प्रवाहध्वनि को सुनकर `ग्यं` को सीखा है । पर गंगा का वास्तविक उद्गम है गंगोत्री से उपर गोमुखी क्षेत्र । हमारी लोकभाषाओं में गंगा` शब्द का `नदी` अर्थ अब भी सुरक्षित है । चाटुर्ज्या महाशय के अनुसार मूल ध्वनि`गं` या`गंड०` है । शाब्दिक अर्थ में गंगा का जन्म विष्णु के चरण से ही हुआ है । निषादों के बाद आर्यों के संसर्ग में आकर नदी का उदार धीर पवित्र

वैष्णव चरित्र हमारे वांगमय में दिन-प्रतिदिन विकसित होता रहा है । नदी मूलत: भले ही निषादों की हो, परंतु इतिहास के मध्य वह भारतीय आर्यत्व का प्रतीक हो उठी है । आर्य भले बाहर से आये हों परन्तु आर्यत्व के मानकक का विकास भारत भूमि में हुआ । इसी आर्यत्व की व्याख्या करने के लिए 'रामायण' महाकाव्य लिखा गया । अस्तु हिमालय भूमि ही आर्यभूमि है । भारतीय ही आर्य हैं और गंगा नदी ही आर्य नदी है । मनुष्य के मन में भी एक बाहरी नदी बहती है । इस बाहरी नदी के समानान्तर, मन में सहस्त्र शीर्षा भाव समुद्र हैं, इसी बाहरी जलाधि के समांतर या उससे भी बृहत्तर, नदी भगवती है आधारूपिणी है । उसे बलि चाहिए- मिष्टान्न की हो या जोड़ा हंसों की हो और इस बलि को-वह- कोनदी की सगोत्र निषाद वधू ही खा सकती है हम नहीं ।

'लोक सरस्वती'[१४] शीर्षक निबंधानुसार यह कम से कम सात-आठ सौ वर्ष पुरानी प्रतिमा है । यह मूर्ति रूपविन्यास और भंगिमा में भोज सरस्वती की प्रसिद्ध प्रतिमा के समरूप है । यह शिल्पी जिसने इस लोक सरस्वती की प्रतिमा को रूपायित किया था बड़ा सावधान कलाकार रहा होगा । यह उस लोक संस्कृति का प्रतीक है जिसे मोक्ष या निर्गुण पाठ और निर्गुण सुख की शब्दोतर व्याख्या शताब्दी दर शताब्दी गुरुओं और श्रमणों द्वारा सुनायी गयी । यह सरस्वती प्रतिमा इसी लोक-जीवन की सरस्वती है । यहां पर परिणत रस अप्रसुता नायिका के रूप में सरस्वती के वधू की कल्पना की गई है । नारी सबसे सुंदर कब लगती है जब उसके मन में प्रेमिका भाव और वात्सल्य दोनों भावी मातृत्व की प्रतीक्षा में रहते हैं । जब जीवन पूर्णकुंभ या मंगल घट सा हो जाता है । एवं चेहरा शिशुओं जैसा निष्पाप,सरल बन जाता है, उस आनेवाले मातृत्व के प्रभाव से यही श्यामा अप्रसुता नायिका का चरम सुन्दर रूप है । हमारी संस्कृति के अन्न प्राण और मन के कोषों की संयुक्त प्रतीक इस लोक सरस्वती की मूर्ति को रचा है । शक्ति, बल, ताकत और सहज प्रवणता का

स्त्रोत संक्षेप में मानसिक दैहिक स्वास्थ्य का स्त्रोत तो लोक संस्कृति ही है । इस लोक सरस्वती के अंतर्गत यह सब कुछ आ जाता है जो शास्त्रीय अथवा किताबी नहीं। लोक-साहित्य विशेषत: लोक की ऐसी प्रक्रिया है जिसे पूरे पूरा मुद्रित रूप में अक्षरों पंक्तियों द्वारा व्यक्त करना कठिन है । ठाकुरप्रसाद सिंह ने `वंशी` और `मादल` के गीतों की रचना में यथासाध्य लोक गीतात्मकता को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है और उसे भी पढ़ते समय उपयुक्त अनुभव होता है । अंग्रेजी के `फोकलोर` शब्द का प्रति शब्द, लोकगाथा या लोक साहित्य चलता है । यहां पर हमने जिस लोक सरस्वती की चर्चा की है वह इस सारी अतुल व्यापक राशि का प्रतीक है । उसका कोमलतम और बहुचर्चित चेहरा है लोकगीत । यह लोक सरस्वती बिन्दु है जिसका नाद और सुर विस्तार है लोक संस्कृति । लोक संस्कृति का केन्द्र है कृषक और जन्मभूमि है ग्राम । अभिजात संस्कृति का केन्द्रीय पुरुष है नागरिक और जन्मभूमि है नगर । इसके विपरीत आधुनिक संस्कृति का केन्द्र है `मशीन` और उससे जुड़ा है श्रमिक, मध्यमवर्ग पूंजीपति`। आधुनिक संस्कृति के दो उपभेद हैं : व्यक्तिवादी बूर्ज्वा संस्कृति और समूहवादी श्रमिक संस्कृति ।`अन्नपूर्णा की बाणभूमि `[२५] शीर्षक निबंधानुसार नदी को माता की उपमा देने के बाद पापहरा भी कहा गया है । इस पापहरा नदी के तट पर आकर घड़ी दो घड़ी बैठकर शांति, मुक्ति, विराग और क्षमा का आहरण भी होता है । सारी ग्लानि घुल सी जाती है । गंगा का प्रवाह संयमपूर्ण है, ब्रह्मपुत्र के स्वर में बाघ की गुर्राहट होती है जबकि गंगा के उर्मि चक्रों पर स्वर की वीणा बजती है । नदी क्या है साक्षात सरस्वती है । शांत गंगा का प्रवाह मेरे मन में जो बिम्ब उभारता है वह है हजार-हजार श्वेत धवल गायों का रंभाना । गंगा का बाण संसार की सबसे उपजाऊ भूमियों में से एक है । इस तट पर गंगा मनुष्य का आवास तथा इस तट भूमि द्वारा मनुष्य का पोषण कम से कम चार हजार वर्ष से हो रहा है ।`गंगा की बाणभूमि` में धान्य की फसल ज्वार-बाजरे की खेती के रूप में होती है । वर्षा, शरद में सारी बाणभूमि ज्वार-बाजरे से ढक जाती है । यदि मघा नक्षत्र में मेघ पानी दे दे तो यह बाजरा फूटकर के कचनार काला नाग हो उठता है

गंगा तट की हवा ही ऐसी है कि मन युद्धिष्ठिर के रथ पर सवार हो जाता है और धरती से सवा हाथ उपर -उपर ही विचरण करता है । कहीं- कहीं गंगा तट भौंरों से भरा है- और उनके नृत्यकलाप से रंगविरंग बना रहता है । निबंधकार के मत से `सरस्वती ` मात्र नदी नहीं हमारे इतिहास की सुषुम्ना नाड़ी है । यह काल्युग की भाषा में हमारे `सामूहिक मन`या`जातीय मानस` की सदानीरा नदी है ।

`कृप्पन भौंरों की इतिहास नदी`[१६] शीर्षक निबंधानुसार आदमी बूढ़ा हो जाता है छब्बीस से सब्बीस हो जाता है । रुखसार पर झुर्रियां पड़ जाती हैं पर जब तक मन बूढ़ा न हो भाषा षोड़शी ही रहती है । परवर्ती भारतीय महर्र्र- महाकवियों ने भोजन का जो वर्णन किया है वह व्यंजनों और पकवानों की सूची मात्र है । भारतीय धर्मसाधना, साहित्यकला, वेश-विन्यास प्रणय शैली की तरह पाककला और व्यंजनावली भी आज तक अविच्छिन्न अपरिवर्तित चली आ रही है । कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यों का ही खाना जंगली नहीं था । आज उत्तरभारत में सत्तू किसान संस्कृति का प्रतीक है और मछली बाबू संस्कृति का । भारत के श्रमविमुख जीवन दर्शन के वंशधरों द्वारा `सत्तूखोर` शव्द एक विशेष संदर्भ में उच्चारित किया जाता है । पाक कला और व्यंजनावली में हिन्दू धर्म, बौद्ध, जैन सबकी संयुक्त परम्परा है । जैसे साहित्य में नवरस है वैसे ही भारतीय भोजन में षटरस है । भारतीय पाक कला में तीन दौर है । भारतीय महाकाव्यों में नारी के रीतिबद्ध नख-शिख वर्णन की तरह खाद्यसूची भी रीतिबद्ध ढंग से प्रस्तुत की गयी है । आर्य जातियां, ग्रीक, ईरानी और हिन्दू तीनों मूलत: जौ खानेवाली जातियां हैं । गेहूं तो बाद में आता है । बसंत प्रतिवर्ष आता है और ग्रीस के विविध द्वीपों की पहाडियों पर उगी बनानी मधु के छत्तों से भर जाती है । होमर के नायक पौराणिक महिमा से समृद्ध है किसी से डरते नहीं - देवताओं के सामने या बगल में निर्भीक होकर युद्ध लड़ते हैं । महाभारत का प्रत्येक पात्र अत्यन्त सजीव एवं अत्यन्त मानवीय है। ग्रीक रन्धनकला पर ईरानी और मिश्री प्रभाव अर्थात् एशियाई प्रभाव प्रचुर रूप से पड़ा है । संक्षेपत: कला मूलभूत

आदिम और ज्योमितिक की ओर उन्मुख होती जा रही है तो स्वाद रुचि भी सहज और स्वादभोग की ओर उन्मुख होती जा रही है। `नदी तुम बीजाक्षरा`[१७] शीर्षक निबंधानुसार हमारी संस्कृति का `रस` है भारतीयता। जिसमें आर्यत्व है स्थायीभाव। यह देश नहीं नदी मातृक है। कृषि और कृष्टि दोनों नदी सम्भवा है। ब्रह्मपुत्रा असमिया जाति के इतिहास की धारा का प्रतीक है। सारी सृष्टि मूलत: मानसी है। अत: ब्रह्मसर या मानसरोवर ब्रह्म मानस का प्रतीक है। अत: ब्रह्मपुत्र भूगोल की दृष्टि से एक नदी है मिथक की लाक्षणिक भाषा में वह अमोघपुत्र एवं देवता-सम्भूत है। किरातों के लिए एक अन्य शब्द है हिन्द मंगोलीय या भोटन मंगोलिया ये किरातगण कोल या निषाद से भिन्न अग्निवर्ण या पीले रंग के होते हैं। उनकी वेशभूषा भी चित्र-विचित्र होती है। अरुणाचल और असम इस जीवंत किरात संस्कृति की लीलाभूमि है। `सांडपो` या `सांगपो` ब्रह्मपुत्र का ही तिब्बती नाम है। यों सांड़पो का प्रवाह पथ प्राय: निर्जन है। पूरे अरुणाचल क्षेत्र में ब्रह्मपुत्र का `सांड़पो` नाम बदलकर हो जाता है। `दिहाड़`। वास्तव में इसी दिहाड, दिबाड़ और लुइत की मिली धार को हम ब्रह्मपुत्र या लौहित्य, या लौहितनद कहते हैं। इस प्रकार नदी एक है नाम अनेक। भारतीय हिमालय सुन्दरता की देवभूमि है।

`नवरात्र की शस्य पार्वती`[१८] शीर्षक निबंधानुसार जहां-जहां कृषक संस्कृति को विनिष्ट करके आधुनिक मशीनी संस्कृति का आरोपण हुआ है वहां -वहां अधिक भौतिक सुविधाएं प्राप्त करके भी मनुष्य सुखी नहीं है। चैत्र मास का वैदिक नाम है मधुमास और यह नाम शस्य या अन्न में निहित मधु अर्थात् सुस्वादता के कारण ही है। चैत्र के नवरात्र में महाष्टमी रात्रि की देवी है अन्नपूर्णा। देवी षड्ऋतुओं के माध्यम से सृष्टि के सारे जीवों के आगे परोस रही है। किसी को पत्तल पर किसी को हाथ पर या किसी को सीधे सीधे जीभ पर। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को इस देवी का आविर्भाव हुआ था। यह वासंतीय नवरात्र शारदीय नवरात्र से भी अधिक पवित्र है। शारदीय नवरात्र तो रामचंद्र के द्वारा चलाया हुआ अकालबोधन है। मूल नवरात्र है चैत्र मधुमास का नवरात्र। यहां पर देवी की लौकिक कल्पना की गई है। देवी तो कामरूपा है, इच्छावपुधारिणी है और उनकी प्रत्येक क्रिया के साथ उसका एक विशिष्ट रूप व्यक्त

होता है। अन्नपूर्णा देवी है, गौरी है अर्थात् गौरवर्ण आर्यों की कल्पना से उत्पन्न मातृका है। ईसाई रहस्यवादी संतों ने भी इस 'अन्ना' को ईश्वर की महान् पितामही के रूप में देखा है। प्राचीन पारसी ग्रंथ 'जिन्दावेस्ता' में एक देवी का उल्लेख है 'अन्नाहिता' जिसका फारसीरूप हो गया 'अनहिद' अर्थात वीनस वह देवी या वैसी ही उसकी सहोदरा, महागौरी हिरण्यगर्भा मातृका इस नार्डिक आर्य जाति में प्रत्येक कबीले में पूजित होती है। शाक्त दर्शन के पंडितों का कथन है कि शाकम्भरी ही चैत्रमास के नवरात्र में अन्नपूर्णा में पूजित होती है। नवरात्र के चंडीथान में असल पूजा मूर्ति की नहीं, पूर्ण कुम्भ की होती है। मूर्ति का कारोबार तो बाह्य उपकरण या सज्जा है।

'परास्ति नरक'[१६] शीर्षक निबंध में गांव के एक धोबी ताल की चर्चा की गई है। धोबी ताल हमारे मन के अवचेतन का प्रतीक है जिसमें हमारी अतृप्त इच्छाएं एवं विरूपमुखी वासना इन्हीं जलचरों की तरह बिहार करती है और कभी स्वप्न या तन्द्रा के मध्य सतह से उपर कामरूपी चेहरा निकाल कर झांक जाती है। इसी ताल की एक ओर धोबी घाट बना हुआ है। यह धोबीघाट इसी ताल के औघड़ व्यक्तित्व का चेहरा बनाता है और इसकी गरिमा को व्यक्तिवाचक स्तर पर पहुंचाकर इसे एक नाम अथवा संज्ञा प्रदान करता है। इसमें धोबी के परिश्रम की प्रक्रिया इतनी तीव्र रहती है कि गान के ध्वनि छन्द को कण्ठ अभ्यास वश दुरस्त रखता है। इसमें काव्य है, भाव है और ध्वनि का बंधा हुआ छन्द है। परंतु जब जब इस गान पर विचार करते हैं तब-तब लगता है कि राजनीतिज्ञों द्वारा आरोपित मिली जुली संस्कृति का द छद्म मुखौटा धारण किये 'चकमी-पैबंद' वाली मृत-निष्प्राण, बाजारू, उर्दू कल्चर की अपेक्षा यह गान अधिक समृद्ध एवं सजीव रचना है। वह अपने सजीले वैशाखनंदन पर सवार होकर अन्य दो गधों पर कर्म की लादी लादे हुए एक शोभायात्रा की तरह हुल्लड मचाते हुए- टिटकारी भरते हुए घाट पर पहुंच जाते हैं और पांच मिनट

बाद ही, `क्रिया-क्री` का बीज मंत्र मुखारित हो जाता है। ठीक इसी समय दरगाही के प्राणप्रिय सखा उस वैशाखनन्दन के कंठ से `क्रीयों-क्रीयों` की कर्णवेधी हुंकार सुनाई पड़ती है। `रक्षादीपक`[20] शीर्षक निबंधानुसार आज से सात हजार वर्ष पूर्व की चैत्र की एक अमावस्या रात्रि का वर्णन किया गया है। यक्ष मूलत: आदिम लोकायत धर्म का देवता था। माटी ही चैतन्य का रथ है। इसलिए प्रागैतिहासिक अंधकार में बजती मृदंग ध्वनि चैतन्यरूप यक्ष की घरघराहट का प्रतीक है। लगता है कि भारतीय वसुंधरा तेजस्वी शबरमंत्रों के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। अरुणोदय के साथ नवरात्र का आरंभ होगा और देवी यक्ष चालू होगा। लोकायत धर्म देवी का दोंपारिक शबर ही है। देवी स्वयं `माया शबरी है। शबर कन्या है। वैदिक उल्लेखों से पता चलता है उत्तरभारत में `शबर` या `शम्बर` जाति का भी अस्तित्व था। पर शबर बस्तियाँ और नवदुर्गों को रचकर रहनेवाले थे। चिन्मय रूप का प्रथम सोपान वही आदिम लोकायत धर्म है। बंगाल की काली पूजा मूलत: चामुण्डा पूजा है। गुप्तकाल में सप्त मातृकाओं की पूजा के प्रचलन के ऐतिहासिक संदर्भ भी मिलते हैं। ये लोकायत देवगण रोग व्याधि आदि के प्रतीक होकर भी अस्तिमूलक भूमिका धारण करके स्थित हैं। लोकायत संस्कृति गान, पूजापचार कल्प के द्वारा इनके भीमत्व का परिहार करके इन्हें मांगलिक एवं आनंदमय अनुभवों का स्रोत बनाती है। वास्तव में भारत की चिन्मय संस्कृति का, मनोमय भारत का गर्भनाल इसी लोक या धर्म के पर्दे से फूटता है। यही लोकायत धर्म विष्णु नाभि है।

`सतुखोर आर्य`[21] शीर्षक निबंधानुसार भोजपुरी क्षेत्र की रसवती में सत्तू का वही स्थान है जो पूर्वी भारत में खिचड़ी का है। पूर्वी भारत का पदयात्री यात्रा के पड़ाव में दिन में चिवडे-गुड़ का भक्षण करता है और रात को किसी पेड के तले खिचड़ी बनाकर सिद्ध कर लेता है। परंतु हिन्दुस्तानी दिन में सत्तू घोलता है और रात फक्कड़ लक्कड़-टिक्कड़ की उक्ति बोलनेवाले सन्यासियों की तरह वह भी टिक्कड़ या बाटी सेंकता है। आर्यों का सम्बंध गंगा की घाटी के निषादों से हुआ जो गंगा की

तटभूमि में चावल का आविष्कार कर चुके थे। आर्यों की खाद्य संस्कृति मूलतः आटा संस्कृति थी जिसे आधुनिक भाषा में dough Culture कहकर वर्गीकृत किया गया है। सत्तू मालपूए से अधिक महत्वपूर्ण है। प्रातःकाल सरस्वती के तट पर सूर्य को अंजलि देते हुए वे पितरगण ऐसे लगते हैं गोया सिंहों की पांते दोनों पंजे उठाकर सूर्य का स्तवगान कर रही है। आदि आर्य संस्कृति ~~मैक्टर-सत्तू~~ `आटा सत्तू` संस्कृति थी। सोमरस या किसी द्रव में भुन्ने अन्न का आटा मिलाकर पान करना वे सीख चुके थे। उनके पास घी, दूध, शहद की बहुतायत थी। देह की साधना और अन्न का भोग वैदिक आर्यों की जीवन साधना का महत्वपूर्ण अंग है। यहां पर अन्न के अर्थ को विस्तार देने की चेष्टा भी स्पष्टतः लक्षित की जाती है। `अन्न` शब्द का वैदिक प्रयोग सर्वत्र स्थूल भोजन के अर्थ में न होकर `अन्न` के भीतर निहित `शक्ति` के अभिमानी देवता के लिए हुआ है। प्रत्येक क्षेत्र की एकक्षेत्रीय खाद्य संस्कृति होती है। समूचा दक्षिण एशिया और पूर्व एशिया चावल संस्कृति का क्षेत्र रहा है। भोजपुरी या काशी का क्षेत्र भारतवर्ष का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा इलाका है। परन्तु सत्तू या बाटी की लोकप्रियता के पीछे गरीबी-अमीरी का प्रश्न नहीं है। सत्तू-बाटी के पीछे हमारी देशी लोक सरस्वती और लोकमानस की कुछ परंपराएं और कुछ संस्कार हैं।

`निषाद बांसुरी`[२२] निबंधानुसार हमारे भारत वर्ष में आर्य-द्राविड़ निषाद, किरात आदि विभिन्न जातियां आकर बसी थी। यहां पर निषाद -कातर कण्ठ से प्रार्थना कर रहा है। भारतीय धरती के आदिमालिक निषाद ही थे। निषाद वृषाकपि देवों और अपदेवताओं को पूजनेवाली जाति है। पूरे रामायण की कथा भले ही निषाद कल्पित न हो, परन्तु उसके तानेबाने में कुछ प्रसंग और कुछ विश्वास तो अवश्य ही ऐसे हैं जो निषादों में प्रचलित रहे होंगे। रामकथा इस फल का प्रमाण है कि गंगातीर के निषादों का जीवन रामचंद्र द्वारा ही संस्कार समृद्ध किया गया है। आज के मध्यप्रदेश में अब भी निषाद संस्कृति अपनी निषाद भाषा भूषा

भोजन के साथ अक्षुण्ण है। भारतीय खेती का सूत्रपात करनेवाले निषाद ही हैं। धान-द्राविड़ शब्द है जो अंग्रेजी राइस का आदि बिन्दु है। परन्तु भाषा वैज्ञानिकों का कथन है कि 'चावल' निषाद शब्द है। आर्यों ने निषाद संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया में इन्हें अपनी भाषा में दाखिल कर लिया। 'बहुरूपी'[23] शीर्षक निबंध के अनुसार हर साल हमारे देहात ज्वार में बहुरूपियों के दल आल्हा गायकों, नटों और कलाबाजों की टोलियां तथा यायावरों और जोगियों की भीड़ घुसती थी और गांव-गांव में किसान, राजाओं से एक मुट्ठी अन्न का आशीर्वाद मांगती थी। और विमुख कभी नहीं लौटती थी। वे लोग जान-बूझकर विकृत उच्चारण सेवाराम करते थे जो अलौकिक और अनुकरणीय ज्ञात होता था। इस तरह अलग-अलग वेशधारी बहुरूपियों का यहां पर वर्णन किया गया है। अगहन आता है पर सिर्फ छाती पर आदहन जलाने, पहले चन्दन की ~~अक~~ गाछ पर काग बोलता था, प्रीतम का सन्देश पढ़ता था, तो आज दिन में ही छत पर उल्लू बोलते हैं और रात में शाप मंडराता है। अत: स्वभाव और अभाव दोनों के कारण बहुरूपियों की कला की कोई कदर नहीं रही। पहले भी तो कला उनके लिए जीवन का साधन ही थी। पहले वे ललित कला के द्वारा पेट भरते थे तो आज लालित्यहीन कला का आश्रय लिये होंगे। आज तक मनुष्य जाति के इतिहास में कोई भी ऐसा उपयोगितावादी पैदा नहीं हुआ जो लालित्य साधना के मूल्य को अस्वीकार करे। पर लक्ष्य मंजिल का टिमटिमाता ताज है आज गांवों में शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है। औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति दोनों का दायरा विस्तृत होता जा रहा है। शहरी मन और शहरी सन्दर्भ में कला और जीवन दोनों विच्छिन्न चलते हैं। कला उनके लिए मनोरंजन है, वासनापूर्ति का साधन है। भारत में नौकरशाही मुगलयुग से शुरू होती है और इस नौकरशाही के प्रतिनिधि हिन्दुओं और मुसलमानों के कुछ वर्ग विशेष हैं। नागरिक संस्कृति और लोकसंस्कृति परस्पर एक दूसरे को नवसंस्कार और नवप्राण दे रहे हैं। आज के साहित्यकार को तुलसी और रवीन्द्रनाथ की तरह दुहरा उत्तरदायित्व लेना है। लोक के लिए लिखना है-

साथ ही स्वान्त: सुखाय लिखना है । आज हिन्दुस्तान ही एक महानट है ।इस महानट की भूमिकाएं देश और काल दोनों इकाइयों में बिखरी पड़ी है इसकी जिजीविषा बहुमुखी है । सिसृक्षा बहुमुखी है ।

'विकल चैत्ररथी '[२४] निबंधानुसार एक अनामा विहंग माछाराडा हिन्दुस्तान में एकमात्र सुखी जीव है । यह वही विहंग है जो अलका स्वप्न की डाल लेकर राजा विक्रमादित्य के सभाकवि के पास जाया करता था । कल्पना ही आत्मशक्ति का, सौन्दर्य बोध का तथा ईश्वरीय बोध का मुख्य स्रोत है । भौतिकवाद का पहला प्रहार होता है धर्म और उपासना पर फिर साहित्य पर । क्योंकि ये कल्पना की सर्वाधिक सुस्पष्ट सगुण अभिव्यक्तियां हैं । इसाई मन की मूल शाखा है कैथोलिक धर्म। उपासना पद्धति तथा कल्पना प्रवणता में यह हिन्दू धर्म के बिलकुल समांतर चलता है । जिस किस्म की नकारात्मक सुविधावादी ईश्वर निरपेक्ष धर्म निरपेक्षता की व्यवस्था हमारे य यहां है वैसी काम्युनिस्ट देशों और स्विटरजरलैंड को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं । चैत्र रथ अलका के उपकण्ठ का बाह्योद्यान है जहां धूर्जटी के शीर से नित्य ज्योत्सना की आलोकधारा सदैव निरन्तर प्रवाहित रहती है । वास्तव में कविकुलगुरु ने 'मेघदूत' में अलका का चित्र इतना संकेत पूर्ण दिया है कि प्रथम पाठन में ही वह प्रतीक का रूप ग्रहण कर लेता है । कालिदास की अलका वैसी ही एक कल्पनालोक की प्रतीक है । सृष्टि की सारी ऋतुओं की एक साथ सहस्थिति अलका में है । 'संकेत अभिसार'[२५] शीर्षक निबंध में ग्रीष्मकालीन गंगा का वर्णन किया गया है । हिमालय के अंदर आज भी अनेक स्त्रोत या धाराएं बेतरतीब ढंग से बह रही है । अनेक के नाम के पीछे गंगा शब्द ही जुड़ता है यथा कृष्णगंगा, धवलीगंगा, नीलगंगा आदि । पश्चिमी विद्वानों ने ऐतिहासिक एवं भूगर्भशास्त्रीय प्रमाणों की छानबीन करके जलप्लावन का काल निर्धारित किया है । भगीरथ का महत्व यही है कि उन्होंने गंगा के बहाव पथ का संस्कार किया- पर्वतीय भागों में विविध जलस्रोतों के लिए गिरिपथ काटकर ।यहां पर

दो धाराएं मुख्य धारा `बाह्यगंगा` और उपधारा झाड़न-`भीतरी गंगा` का संगम बिन्दु है । इस गंगातट पर लसोढ़ और बबूल के पेड़ अपने आप उगते हैं । जिन पर पक्षियों के घोंसले फलों की तरह लटके रहते हैं । गंगातट के जलपक्षी तो अनेक हैं पर स्वर्ग की मंदाकिनी में स्वर्ण हंस और धरती की भागीरथी में चक्रवाक ये दोनों ही गंगा के मौक्तिक श्रृंगार हैं । आज हमारे अंदर न जाने क्यों जिजीविषा के स्थान पर मृत्यु प्रीति विकसित हो रही है ।

`सूर्य और अतिसूर्य`[२६] शीर्षक निबंधानुसार अरुण वर्ण सूर्य का यह क्रांदम् स्वागत मनुष्य के अतिरिक्त केवल सिंह ही कर सकता है अन्य किसी मानवेतर प्राणी से यह संभव नहीं । पौ फटी, पूर्व के द्वार पर लालघोड़ा हिनहिना गया- और नन्हीं-नन्हीं किरण कन्याएं, असंख्य सविताएं धरती के श्रृंग-श्रृंग, शाख-शाख, पत्र-पत्र, फुनगी-फुनगी पर उतरने लगीं। यह लाल मंगलमय अरुण वर्ण है ।जननी के सीमंत जैसा गणेश जी के दिव्य ललाट जैसा, पवित्र कुंकुम वर्णलाल । इस तरह सूर्य को अलग-अलग उपमाएं दी गईं है । भारतीय साहित्य की तीन आंखें हैं- रामायण,महाभारत और श्रीमद्भागवत । और बाह्य दृष्टि से देखने पर इनकी प्रकृति,रीति और विषयवस्तु में क्रमश: अग्नि,सूर्य और सोमतत्वों का प्राधान्य है । वस्तुत: अति सूर्य और कोई नहीं- साक्षात् परमात्मा ही है । जिसके चक्षु हैं सूर्य,चन्द्र और अग्नि- जिसकी प्रसविनी शक्ति है सविता और जिसका उपासना मंत्र है सावित्री । यह अतिसूर्य ही स्वयंभू है, कवि है धाता-विधाता है मधुमाक्ष है । यह अव्यक्त प्रकृति ही परमा प्रकृति का महत् या प्रधान रूप है । अत: अति सूर्य है पुरुषोत्तम या परमात्मा और सूर्य है-अस्मिता या व्यक्तित्व की जन्मभूमि । दोनों चेतन है ।`तस्यभासा सर्व इदं विभाति`[२७]शीर्षक निबंधानुसार परम्परा से सिंधु और शोणभद्र की तरह ब्रह्मपुत्रा भी पुल्लिंग नदी है । अर्थात् महानद है । शहर का प्रात: बड़ा ही वीभत्स और कुरुचिपूर्ण होता है । शहर की शाम अवश्य ही रंगीन और मोहक होती है । गांव का प्रात: सुन्दर एकदम किलकते

बच्चे सा कहा गया है । यह भासा हमारे तुम्हारे उसके और उसके अर्थात् सभी के भीतर स्थित है साथ ही देशकाल के मध्य विकासमान हमारे समूह में । यह एक अत्यन्त बेचैन किरण है जो अविधा में अवरुद्ध होकर निरंतर छटपटाती रहती है । उपर से सृष्टि को उद्घाटित करती हुई प्रात: किरण और भीतर से आत्म चैतन्य को जागृक कर 'स्व' को उद्घाटित करती हुई अंतर की भासा दोनों एक ही प्रकाशमय सत्ता के क्रमश: स्थूल अर्थात् चाक्षुप और सूक्ष्म अर्थात् नि चिन्मय रूपान्तर है ।

साहित्यिक :

श्री कुबेरनाथ जी ने साहित्य विषय पर अनेक निबंध लिखे जिनमें उन्होंने साहित्य के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित किया है ।

'शब्दश्री' शीर्षक निबंधानुसार व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है । जब कोई शब्द वाक्य के भीतर कुमार्गगामी होता है तो उसकी आवारागर्दी को ठीक करने के लिए व्याकरण उस पर लाठीचार्ज करता है । अश्रुगैस छोड़ता है और गिरफ्तार करता है जिससे वाक्य संहिता का ठीक-ठीक पालन होता है । छन्द या नियम मानना इसके लिए आवश्यक नहीं । भारतीय जाति कर्मकाण्ड और कल्पों की इतनी प्रेमी है कि न केवल मन और अहंकार को, बल्कि बुद्धि को भी वह कल्पबद्ध और कर्मकाण्डबद्ध करके चलती है । यह जाति भोजन से अधिक महत्व थाली तल से आसन को देती है । और भावों विचारों से अधिक महत्व व्याकरण को देती है टीकाकारों ने व्याकरण आपिष्ट बुद्धि से 'शब्द विधा' का अर्थ लगाया है व्याकरण विधा । निबंधकार के अनुसार 'शब्दविधा' का अर्थ होना चाहिए कोष विधा, कोष या शब्द श्री, जो सारी अभिव्यक्तियों का स्रोत है । कोषश्री परमाप्रकृति का अंग है। यह शब्दश्री या कोशश्री एक दियासलाई की डिबिया है । इस तरह सभ्यता की प्रगति का इतिहास इस हवापानी, पशु-पक्षी, पेड-पल्लव को निर्वैयक्तिक सृष्टि से अलग होने की एक व्यक्तित्व और एक नाम पाने की साधना का इतिहास है ।

`निर्गुण नक्शे सबुज श्याम धरती` शीर्षक निबंधानुसार मनुष्य ने भावविकास की लम्बी प्रक्रिया में संस्कार एवं पूर्वग्रहों की रेखाओं द्वारा जितने निर्गुण नक्शे तैयार किये हैं। उन सबका विषय या तो निसर्ग है या मनुष्य । समस्त वांगमय, समूचा साहित्य निसर्ग एवं मनुष्य जाति से संबंधित मानव चित्रों का `एटलस` मात्र है । पहले शिशु कक्षाओं में चौथी श्रेणी तक एक बेजानभरी वर्णसंकर भाषा पढ़ायी जाती थी : हिन्दुस्तानी । इसके बाद आयी `बेसिक रीडर`, इसमें भाषा की भंगी एवं अभिव्यक्ति की शक्ति एकदम भिन्न थी । युगबोध वीरता का उपदेश देता है । अंतर में लोहा भर देता है । साहित्य में निसर्ग की स्थापना रूमानीयुग के आगमन के साथ अर्थात् छायावाद से चलती है । इसके पूर्व निसर्ग मनुष्य के उल्लास अथवा व्यथा की सजावट या पृष्ठभूमि के रूप में मिलता है । रूमानी आंदोलन के नेता वर्डसवर्थ तथा शैली ने निसर्ग को सजीव एवं दार्शनिक सत्ता के रूप में देखा । यह एक प्रकार का नक्शा था जिसे दर्शन की चिंतन-पद्धति में अनुशासित बुद्धि ने सजीव धरती और निसर्ग पर आरोपित किया । दूसरी ओर चित्रकला में प्रभाववाद का फैशन बढ़ा, जीवन की यथातथ्यता को महत्व मिला । आधुनिकतम निसर्ग कविता प्रति बिम्बवाद और प्रतीकवाद के मेल से उत्पन्न टेकनीक में लिखी जाती है । डी० एच० लौरेंस और बाद में डायलन थैमस की कविता में जैविक अद्वैतवाद एवं जैविक दर्शन के साथ-साथ एक नयी आध्यात्मिक अनुभूति को मूर्त किया गया है । आधुनिक निसर्ग कविता जैविक सत्यों का विस्तार है । समस्त सृष्टि मूलत: एक जैविक चक्र है जिसमें एक स्थिति से दूसरी स्थिति में हम चलते जाते हैं। पर यह मौलिक तत्व कभी नष्ट नहीं होता । निसर्ग एक अनन्त सम्भावनाओं वाली सत्ता है । नक्शे आखिर नक्शे ही हे । जो उसे बांध नहीं सकते वे उसका सगुण भावबोध देने में असमर्थ है ।

`दर्पण विश्वासी`[२६] शीर्षक निबंधानुसार दार्शनिकों ने दर्पण के अलग-अलग प्रकार बताये हैं । संतों ने `हिरदय दरपन` को धो पोंछकर , निर्मल प्रसन्न रखने की बातें ~~इ~~ कहने की हे । कवियों ने मनदर्पण में एक ताक-फांक और चार आंखे करके निर्मम विधाता को बार-बार दी है । प्रेमियों ने नयन दर्पण में ही ~~भूलक~~- भूख-प्यास

२२१ आरेखरेख

बुझाकर गुजारा किया है। क्षपणकों और तांत्रिकों ने नखदर्पण के भीतर भूत-भविष्य का चित्र देखने की चेष्टा की है। निबंधकार के अनुसार साहित्य भीड़ का दर्पण नहीं, पर साहित्य है इसी त्रिकोण के अन्तर्व्यापी क्रियासूत्र का उद्घाटन, साहित्य यथार्थ को नहीं, किसी यथार्थ व्यापी एवं साथ ही यथार्थातीत मर्म को, किसी सुपर रियलिटी को व्यक्त करता है। 'सुपर रियलिटी' को जो एक साथ ही परमात्मा की तरह यथार्थातीत है, और विश्वात्मा की तरह यथार्थ व्यापी भी है कभी भारतवर्ष में 'रस' कहा जाता था। परन्तु जब सुपर रियलिटी या 'ऋतु सभा' को हम रम 'रस' कहते हैं तो ध्यान में रखना चाहिए कि 'रस' शब्द उसकी एक विरोध स्थिति का ही वाचक है। आम का रसास्वादन ही विष्णु की लीला का आस्वादन है। तथ्य यह है कि चाहे कला हो, या विज्ञान, मौलिक ज्ञान का आगमन हमें किसी बाह्य सत्ता के आशीर्वाद द्वारा मिलता है। निबंधकार के द्वारा लिखा गया संपूर्ण साहित्य बस इसी दर्पण के चेहरे पर कागज पर आरोपण भर है। निबंधकार कहते हैं कि मेरी चेतन अवचेतन की संयुक्त अंतसत्ता का प्रतीक यह दर्पण निरन्तर मनुष्य के साथ है। निरन्तर जागृत है कभी सोता नहीं। आधी रात जब माया के पांच रंगीन कंचुकों से आवृत्त पयोधरों-वाली सृष्टि सो जाती है तब भी वह दर्पण सारे सुप्त मेले का, सारे श्रमआहत गड्डरिका प्रवाह का, एकान्त के सारे रक्त का साक्षी बनकर योगारूढ़ सा जागृत रहता है।

'मोह मुद्गर'[30] शीर्षक निबंधानुसार जीवन में कर्म की गति जितनी शान्त, मंथर और न्यून होगी जीवन उतना ही आकुलता, भय और चिन्ता से मुक्त होगा। दीर्घायु और स्वादिष्ट होगा। अधिक सक्रीयता का अर्थ है जीवन की शक्ति और सांस की फिजूलखर्ची। जैन दार्शनिकों ने कहा है कि कर्म की गति शून्य करो और शून्य न कर पाओ तो न्यून करो। बुद्ध का मत है कि 'शनैः शनैः इतना शनैः कि कर्म ध्यान में बदल जाय। तभी देवत्व का अनुभव होगा। दूसरे चीनी दार्शनिक ने आस्वादन पर ही एक और महत्वपूर्ण सवाल उठाया है आस्वादन का माध्यम प्याला है तो इस प्याले में कौन महत्वपूर्ण है? प्याले की दीवार या खाली जगह? चीनी दार्शनिक ठीक ही कहते है।

शून्य का स्वाद लो । शून्य का स्वाद ही निर्माण का स्वाद है । निर्वाण ही महासुख है । कवि कालिदास का तात्पर्य-`नेत्रनिर्वाणम्` से नेत्रों का चरम सुख ही है । सुनहली धूप में नदी दक्षिण की स्वर्ण वर्णा काबेरी का रूप धारण कर लेगी और इसमें पुन: स्नानकर कायाकल्प कर डालने की तबियत होगी । स्वर्ण वर्ण माहुर को देखना भी मधुर लगता है, स्पर्श से एक तृप्ति मिलती है । निबंधकार के अनुसार अवकाश और कर्म दोनों विष्णु की माया के सार्थक मुद्गर हैं। माया का मोह-मुद्गर निरन्तर चल रहा है । माया कर्म के मुद्गर से पीटती है तो एक किस्म की मौज आती है और अवकाश के मुद्गर से पीटती है तो दूसरे किस्म की मौज आती है । पर दोनों का आस्वादन परस्पराश्रित है । माया नारी है, अत: उसके मुद्गर की चोट स्वादिष्ट है, पर धर्म तो पुरुष है, यह विष्णु की माया चिद्-अचिद् जगत में व्याप्त है और कर्म तथा अवकाश में मुद्गरों से हमें पीट रही है । `ढलती रात में भाल कोश`[31] शीर्षक निबंधानुसार रात्रि का तीसरा पहर चालू है । इस हिमशीतल सर्द रात में उंगली बाहर करना कठिन है अब महानिशा अर्थात् मध्यरात्रि समाप्त हो चुकी है । महानिशाकाल या महारात्रि विहाग की बेला है और विहाग के बाद आती है मालकोश या मालवकौशिक की बेला । यही मालकोश शिशिर ऋतु का असल राग है । इस राग के सचेत आस्वादन का मनोबल तो ~~इन्हें~~ उन्हें ही प्राप्त है जो ~~गुडाकेश~~ गुडाकेश स्वभाव के हैं । योगी सन्त और गोस्वामी स्वभाववाले लोग ही ठीक से इसका रस ले सकते हैं। सुरों का विस्तार ही उनकी प्रार्थना है । साहित्य,संगीतकला आदि ने समय-समय पर इतिहास में `पहरूपा` की भूमिका निभायी है । मनुष्य के अन्दर जो कुछ देवत्ववाला अंश है वही स्थूल रूप में धर्म और संस्कृति बनकर प्रकट होता है । कुछ लोगों की तो यहां तक धारणा है कि भौतिकवादी नास्तिक युग में धर्म का तिरोधान हो जायगा और संस्कृति लौह कवचों में कैद हो जायगी, तो इन दोनों की भूमिका निभायेंगे साहित्य और कला ।

`एक महाश्वेता रात्रि` शीर्षक निबंधानुसार शरदचंद्रिका को ही श्रेष्ठतम राका

माना गया है । पक्षांह देश को चैत्र-वैसाख की चांदनी ही अधिक भाती है । चैत्र का दिवस तेज एवं धारदार होता रहता है, चारों ओर पकी फसल का दर्शन आत्मबल और उत्साह को जन्म देता है । प्रथम प्रहर में किरणों की धेनुकन्याओं का चपल अवतरण द्वितीय प्रहर में मधुमाधव की चैत्र वैसाख की स्वयंवर सभा, तृतीय प्रहर में निर्मल पुंडरिकवन और आच्छाद सरोवर जो घर-घर आंगन-आंगन उतरते हैं। यह निर्मल चांदनी एक नदी वन्या सी रात्रि के अंतिम दो घंटे प्रवाहित होती रहती है । कदम्ब जैसे वैष्णावों का लीलावृक्ष माना गया है तो पीपल बोधिवृक्ष है । इसे दार्शनिकों का वृक्ष भी कहते हैं । मयूर, पीपल और वृषभ ये तीनों आज भारतीय धर्म-साधना और कलासाधना पर छाये हुए हैं । ये आर्यपूर्व भारतीय परम्परा के प्रतिदान हैं । परकीया रति श्रेष्ठ है, भावआस्वादन की दृष्टि से । पुरुष-प्रकृति, शिवशक्ति, की तरह प्रज्ञापारमिता और अमिताभ बुद्ध का युग्म बिम्ब ~~बौद्ध~~ बौद्ध साधना के मध्य सनातन हिन्दुस्तानी मन में मुहर की तरह प्रतिष्ठित है । यहां पर बुद्ध ने कहा था-`आनन्द,मैंने जिस धर्म की स्थापना की थी वह पांच सहस्त्र वर्ष तक चलता । पर अब इस कार्य के कारण पांच सौ वर्ष तक ही चल पायेगा ।`उनका प्रवचन स्पष्ट रूप में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध की और घोषणा करता है-`भिक्षुओं,आंखे जल रही हैं। सारी सृष्टि जल रही है । सारा दृश्यमान जगत ही जल रहा है------भिक्षुओ, यह किसकी आग है ? यह आग काम की आग है । अत: भिक्षुओं दूर हटो ।`[32] शिव के बाद द्वितीय बार सृष्टि में संपूर्णत: `मार विजय` की घटना हुई । परन्तु बुद्ध में यह निवृत्ति प्रधान दृष्टि मात्र रह गया । उन्होंने अपने धर्म में रसमय पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया । इतना ही नहीं कामना निरपेक्ष और व्यवहार रूप में नारी निरपेक्ष रहने का आदेश उन्होंने दिया । जीवन के अंतिम काल में बुद्ध मौन ही रहा करते थे और `मौन` तथा ध्यान के मध्य बोध ढूंढने का उपदेश देते थे । वास्तव में जैसे चैत का भाई वैशाख है । मधु का भाई माधव है वैसे ही वृंदावन और वृजासन दोनों सहोदर है । भारतीय प्रकृति भी वसंत ऋतु का अंत वैराग्यमयी बुद्धपूर्णिमा के साथ करती है ।

`हरी-हरी दूब और लाचार क्रोध` शीर्षक निबंधानुसार `दुर्वा` यानी

घास का वर्णन किया गया है । इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति से इस दूब या दुर्वा का सम्बंध और महत्व भी बताया गया है । धरती पर की सब घासों में सबसे इज्जतदार है हरी हरी दूब । देश में हर मांगलिक कार्य करते समय इस दूब की अर्थात् हल्दी दूब की जरूरत पड़ती है । हिन्दुस्तान में इसकी सहज खेती होती है । इसे दीन-दूर्वा कहा गया है जो कच्चे दूध की तरह पवित्र तथा सादे नग्न कौमार्य की तरह पवित्र है । प्रभु के शील सौन्दर्य की प्रतीक है । सदाबहार तो और भी घासें हैं केवल दूर्वा ही सदाबहार नहीं । पर यह दूब कि जो सदाबहार होते हुए भी 'स्व' के निर्मम रूप से निरपेक्ष है । आज की शिक्षा, प्रगति, प्रतियोगिता, अस्तित्व के लिए संघर्ष आदि नारों के माध्यम से नैतिकता निरपेक्ष सत्ता है । हम ईश्वर के स्थान पर लोकतंत्र में अपनी आस्था विकसित कर सकते हैं । यदि आज लोकतंत्र में आस्था होती तो कबीर-तुलसी की तरह हम भी कह सकते-'क्या करेगी तुम्हारी प्रतापशाली कुर्सी ? और उसका महिमामय सोना क्या कर लेगा ? मैं अन्याय का विरोध करूंगा ही । मेरा रक्षक लोकतंत्र है । जब तक संविधान है और लोकतंत्र है हम सुरक्षित हैं।'[33] आज का लोकतंत्र अस्पष्ट-उलझे और रंग-बिरंगे मुखौटे पहने है । इसकी सचाई पर हम विश्वास नहीं कर पाते । जहां कहीं यह लोकतंत्र आहत है होता है वहां हमारा मर्म पीड़ित हो जाता है । भारतीय बुद्धिजीवी ने द्रोणाचार्य की तरह अभी तक ईमान नहीं बेचा है और हाथों का सौदा नहीं किया है । पर लाचारी भोगकर दिन पर दिन अपना आत्मघात कर रहा है । यह एक 'ट्रैजडी' है ।

'रोहिणी मेघ' शीर्षक निबंध में आवारा मेघ का वर्णन किया गया है । यक्ष यदि द्विवेदीयुगीन सुधारवादी बुद्धिवाला होता तो उसे कर्तव्य का बारबार स्मरण दिलाकर एक 'शार्टकट' का रास्ता बता देता । यहां पर तो यक्ष और मेघ दोनों ही कामुक है और कवि भी । उपर से मेघ भोक्ता और कामुक बनकर आता है जबकि यक्ष कवि तथा दृष्टा बनकर आता है । यक्ष की प्रलोभन मय रूप -रस की, माया की बातें सुनकर मेघ उसका द्वितीय 'स्वयं' बनता जाता है । अभिन्न होता जाता है । ऐसी अंतरंगता

के परिवेश में जो कविता पैदा होती है वह जीवन से रोमैण्टिक पलायन या दमितवासना का भोग नहीं है । पग-पग पर जीवन की सरसता अपने सारे रति संकेतों के साथ उपस्थित होती है । परन्तु कालिदास के द्वारा लिखा गया `मेघदूत` इसके अतिरिक्त भी और कुछ है । यह कालिदास की मौलिक उद्भावना है । निबंधकार ने `मेघदूत` काव्य से `लिबिड़ो` और `प्रणाय` दोनों में भेद बताया है । वास्तव में कालिदास ने सम्भोग श्रृंगार और तेजस्वी वैराग्य दोनों की अभिव्यक्ति समान ढंग से की है । `रोहिणी मेघ` की ~~बक्त-कहलत~~ चर्चा भी निबंधकार करता है । वह रोहिणी `अषाढ़स्थ प्रथम दिवसे` की बात कहता है । यह ~~है~~ ज्येष्ठ का नक्षत्र है । इसके बरसने से सारे बाग का चेहरा धुल जाता है । आम पकने लगते हैं । गड्ढे पानी से भर जाते हैं, और मेंढकों के अविराम स्वर से बाग शिशु की तरह बन जाता है ।

`विरूपाक्ष`[34] शीर्षक निबंधानुसार काल का वर्णन किया गया है । फाल्गुनी के लाल पलाशवन की अतृप्त तृष्णा अंतर में प्रज्वलित किए काल चल रहा है । लाल बच्चों का रंग है । काला सयानों का । आजकल तो अखबारों को पढ़ने पर वैसी ही उबकाई आती है जैसी कि एक बार एक नेता जी के यहां कमल फूलों की पकौड़ियों का फलाहार करके लौटने पर हुआ था । नेता जी इसे अपनी अन्न बचाओ विचारधारा का अद्भुत आविष्कार बार-बार घोषित करते रहे । यहां पर मन को लम्पट कहते हुए बताया है कि कल का ललित लम्पट मन आज फक्कड़ बलराम की तरह क्रोध का आसव पीने लगा । ऐसे क्रोध का भीतर जैसे-जैसे विस्तार होता है आदमी अपनी लघुता और मामूलीपन को छोड़ता उपर उठता जाता है । उसकी सारी दीनता पीछे छूट जाती है और वह मुक्त अहंकार स्वरूप हो जाता है । व्यक्ति अनुराग और क्रोध दोनों का स्पर्श पाकर अपने शुभाशुभ से उपर उठ जाता है । आज हमारी मानववादी अर्थनीति में मशीन को महत्वपूर्ण माना गया है । संसार में कमीनापन और बेहयाई के दांत चमक रहे हैं और आसमान में दैत्यों की ~~व्यंग्यप्~~- व्यंग्य पखावज बज रही है ।

बाहर-बाहर अपमान है। तिरस्कार और अन्याय है इतना ही नहीं -घमण्डी का क्रूर कठोर चेहरा है और कानूनी व्यभिचार है। संक्षेपत: देखें तो क्रुद्ध और ललित ये ही व्यक्तित्व के दो मूल रूप है। व्यक्ति त, निसर्ग, इतिहास तीनों के बारे में यह एक समान रूप से व्यवहार सिद्ध तथ्य है दोनों के परस्पर वरण से व्यक्ति त, निसर्ग और इतिहास में पूर्णता और स्थायीत्व आते हैं। यहां पर कवि श्रृंगार रस का अनुभव बोध की स्पष्टता के साथ करता है। बोध की स्पष्टता पाने की क्रिया को यहां पर ध्यानयोग कहा गया है।

`एक महाकाव्य का जन्म`[35] शीर्षक निबंधानुसार कुछ बाते ऐसी है जिनका संवेदन निशेष नहीं होता। जिनका अर्थ अमित होता है। और जो बहती नदी की तरह पुरानी एवं वही परिचिता धारा होते हुए भी क्षण-प्रतिक्षण नयी है, नदी तो बही है पर क्षण-प्रतिक्षण वह नयी होती जा रही है। आज भी एक ही गांव के अन्दर किसी टोले में इतिहास जड़ीभूत बनकर चल रहा है। रामायण की थीम है `पौलत्स्यवध` और इसका सूचक वृत है- `क्रौंचवध`। सारे महाकाव्य का संकेत इसी वृत में निहित है। रामायण का सूचक कालिदास और शेक्सपीयर के सूचकों की तरह मूल घटना का अंग बनकर नहीं आता। परन्तु रामायण लेखन की प्रक्रिया से इसका प्रत्यक्ष सम्बंध है। रामायण वीर रस का काव्य है और साथ ही करुण रस का भी। महाकाव्य में मूलरस नायक की दृष्टि से नहीं, `थीम` की दृष्टि से होता है इसी रामायण का उत्स है करुणा और प्रस्फुटन है वीर रस। कवि स्वयं अपने को अपने अंदर के देवता का आशीर्वाद दे रहा है। ब्रह्म एक दार्शनिक प्रतीक है तात्पर्य यही कि ब्रह्मा को विश्वप्रज्ञा या बुद्धि का प्रतीक माना गया है। अहंकार का प्रतीक है शिव और अहंकार के शीश पर व्यक्ति तगत `मनस` नामक इन्द्रिय का प्रतीक है चन्द्र।

`कवि तेरा भोर आ गया`[36] शीर्षक निबंध में बताया गया है कि पूर्वोत्तर-

सीमान्त रेल्वे का अकर्मण्यता और लेटलतीफी में बड़ा नाम है। हर प्रभात को वनवासी बोलता है वह चाहे आसाम का हो या मद्रास का उसका गान ठीक समय पर उठता है। सुबह में सबसे पहले मुर्गा बोलता है उसके आधे घण्टे के बाद दो चार अनामापक्षी बनैल, पखेरु आदि अपना सहगान करते हैं। काल का कोई व्यक्तित्व नहीं है। घड़ी समय बताती है। घड़ी के बारह नम्बर और कांटे हैं। घड़ी भाषाहीन है इसके अंक निर्गुण है। पक्षियों को समय का ज्ञान सहज ही होता है। आवाज भी एक तरह की रोशनी ही है। 'बृहदारण्यक' में याज्ञवल्क्य के अनुसार जब सूर्य अस्त हो जाय, चन्द्र अस्त हो जाय, अग्नि भी शांत हो जाय तो पुरुष के बचे रहने का एक मात्र आश्रय वाणी है। अत: स्वरों की, उत्साह और बल की सेना दसों दिशाओं में धावमान है। कालपुरुष का प्रखर सूर्योदय हो रहा था पर वह मराव के उन्माद में चन्द्रमा के सपने देखता रहा। डा० सुनीतिकुमार चार्टुज्या ने कुक्कुट को आग्नेय भाषा परिवार की संस्कृति से सम्बंधित बताया है। कुक्कुट देवी का भी प्रिय पक्षी है। कुक्कुट देवी से सम्बंधित होने पर भी असम बंगाल में कुक्कुट मांस अपवित्र माना जाता है। परंतु वाल्मीकि रामायण का साक्ष्य है कि मृग, मयूर, और कुक्कुट के मांस श्रेष्ठ नागरिक भोजन थे। आधुनिक युग के अनेक श्रेष्ठ हिन्दू मांस खाते थे जैसे विश्वेश्वर विवेकानन्द और महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि। यहां पर रोचक प्रसंग का वर्णन हुआ है। एक दिन निराला जी अपनी सर्वतोमुखी सृजन प्रतिभा लगाकर मांस-पुलाव बनाने लगे - जब सबकुछ बनकर तैयार हुआ तो उसी समय मुंशी अजमेरी नजर आये और निराला जी तुरंत बोल उठे- 'अरे परमानन्द, जल्दी फेंको खिड़की से इस पुलाव को,- मुंशी अजमेरी आ रहे हैं। परम वैष्णव हैं। मांस की बात उसे मालूम हुई कि वह हमारे यहां आना ही छोड़ देगा।'[37] यहां पर शुद्धता के नाम पर अविद्या और अज्ञान की पूजा करवाना घोर बौद्धिक कुकर्म है। यह बताया गया है।

'जम्बुक'[38] शीर्षक निबंधानुसार निरर्थक और अर्थ दोनों के महत्व को समझाया गया है। जो निरर्थक होता है वह सुंदर होता है, पर जो अर्थ है वह दारुण और

असुन्दर होने पर भी रम्य लगता है। उसकी रम्यता के लिए सुन्दरता जरूरी नहीं है। अर्थ का छाया दर्पण बड़ा ही मनमौजी है इसे कामरूपी मायामय पुरुष कहा है। इतना ही नहीं- एकांत को चीरता हुआ जम्बुक स्वर और अगले क्षण एक सम्वेत जम्बुक गान, इन सभी छवियों में अर्थ का आविष्कार किया है। जब रात में धरती की सारी ध्वनियां मौन होती है तब यह अकेली जम्बुक स्वर की ध्वनि कि जिसे गुड़ाकेश जागती ध्वनि कहा है। वह अत्यन्त अर्थगर्भी और रमणीय हो उठती है। एक समय था जब जम्बुक अर्थात् स्यार सिंह की तरह शक्तिशाली रहा होगा, और मां अपने बच्चे को सुलाने के लिए डांटती होगी, `सो जा, सो जा मुन्ने नहीं तो स्यार बोल रहा है कान काटकर ले जायगा। इस तरह जम्बुक की और भी दूसरी भूमिकाएं हैं। यहां पर वह बाघ सिंह जैसा दुष्ट नहीं - बल्कि `स्यार मामा` है।`जब टहटही धूप उगी हो और उसी में किसी आवारा मेघ को धूप में शरारत सूझे और बनबदरा की सहस्र धार आसमान से धरती तक बजने लगे तो जान लेना चाहिये कि कहीं न कहीं स्यारमामा का विवाह हो रहा है। कहते हैं कि खानदानी कुलीन यदि गरीब बलहीन हो जाता है तो वह स्यार बन जाता है।

`तमोगुणी`[३६] शीर्षक निबंध में अंधकार की बात की गई है। अंधकार के लिए जिस तरह देह के समुद्र में मन का मोती पलता है, वैसे ही , तम के गर्भ में रजोगुण पलता है। वही रजोगुण जब अंधकार की खोल तोड़कर बाहर आ जाता है तो हम अचानक सबेरे देखते हैं कि कहीं कोई फूल खिल गया है। यह चिद्-अचिद् सृष्टि ही विष्णु देश देह है। और इसके षटरस नवरस के आस्वादन को असली वैष्णवता कहा गया है और इसका अस्वीकार ही नास्तिकता है। हमारे देश में एक ऐसा वर्ग है जो धर्म के नाम पर अज्ञान को बेचता है और ऐसे लोगों का संस्कृति के बाजार में ज्यादा महत्व है। इस वर्ग का सारा जीवन, सिद्धान्त और सात्विकता रसोई घर के घेरे मेंस से बाहर नहीं आती। यह वर्ग पटु और पतित है और वे भारतीय चिन्ता के बीजों को अपने ही भात की हांडी में गत सात आठ सौ वर्षों से सिद्ध करके खा रहे हैं। यह वर्ग

इसी रसोई घर को संस्कृति, धर्म , ईश्वर और वेदान्त मानता है तथा चारों ओर अज्ञान फैलाता है । प्रकृति माता है, ममतामयी है, पर साथ ही प्रकृति नारी भी है । प्रकृति धर्म की तुलना बड़ी सच्ची है । यह प्रकृति बड़ी मायाविनी है । उससे भी उसका तामिस्त्रा रूप इसी के बल्कल को फोड़कर जन्म और मृत्यु का आविर्भाव होता है । वास्तव में अविद्या और तमोगुण ही भौतिक विजय और समृद्धि के स्रोत हैं । प्रस्तुत निबंध में 'तमोगुणी' शब्द उन सारी राजस और तामस प्रक्रियाओं से सम्बंधित है। जो हमारे अस्तित्व को गढ़ती है, पालती है और परिपक्व करती है तथा उसका अवसान भी करती है । गीता तो तमोगुण की कुछ अस्वीकारात्मक स्थितियों का ही उल्लेख करती है परन्तु तमोगुण एक पाजिटिव आवश्यक धनात्मक व्यक्ति धर्म भी है ।

'सारंग' शीर्षक निबंध में नटी सारंग राग में गाती है । इसके गीत को सुनकर सूत्रधार, स्वाधिकार प्रमत्त हो उठता है । अन्त में नटी उसे कर्तव्य का भान कराती है- कि एक क्षण पूर्व वह 'अभिज्ञान शाकुंतल' खेलने की प्रस्तावना कर चुका है। जैसे वेगवान 'सारंग' (चित्र मृग) के दुर्निवार आकर्षण से बलपूर्वक खींचता हुआ दुष्यन्त भटक गया था, वैसे नटी सारंग राग गाती हुई उसे सुनकर सूत्रधार को विस्मृति हो जाती है । तब सूत्रधार इस 'सारंग' शब्द द्वारा विस्मृति का संकेत करता है । इस 'सारंग' शब्द का अर्थ टीकाकारों के अनुसार चित्रमृग' और कृष्णसार' दोनों है । मोनियेर विलियम्स के अनुसार काला छींटेदार हिरण ही कृष्ण सार है, तो कुछ ने कहा है कस्तूरी मृग ही कृष्णसार है । इस तरह अलग-अलग मत प्रदर्शित हैं। कस्तूरी मृग स्वभाव से कवि होता है । यह बड़ा ही लजीला जीव है, अकेले-अकेले रहता है । यहां पर सुर की चोट के बाद शर की चोट के आस्वादन में एक अन्य प्रवाद यह है कि जब इसकी कस्तूरी की गांठ पूर्णविकसित हो जाती है तो उससे तीव्र गंध उठती है और गंध की स्रोत को जानने के लिए, इस गंध की खोज में पागल होकर वह दूर-दूर तक दौड़ता है और अंत में दौड़ते-दौड़ते बेदम होकर गिर पड़ता है तथा अक्सर प्राण त्याग देता है । यह कस्तूरी की गांठ मात्र नर मृग में होती है मादा में नहीं । मानव जगत को

छोड़कर शेष जगत में नारी विधाता की निम्नतर सृष्टि है - पुरुष सदैव अकेला है जैसे ईश्वर अकेला है। पर नारी माया है। इस मृग की असंख्य जातियां हैं। यद्यपि मनु ने भारत की सीमा बनाते हुए कहा है कि भारत वहां तक जहां तक चित्रमृग पाये जाते हैं, उसके परे मलेच्छ देश है। परन्तु चित्र मृग धरती के हर एक भाग में पाया जाता है। इस मृग की मृत्यु अत्यन्त करुण ढंग से होती है। मरते समय इसकी चीत्कार और इसका चेहरा देखकर कई शिकारी शिकार करना ही छोड़ देते हैं। आश्चर्य यह है कि यीशू की शकल भी मृग जैसी करुण सुंदर और निरीह है। मृत मृग का चेहरा इसलिए सलीब पर से उतारे गये मसीहा के मृत शव मुख सा करुण और मार्मिक लगता है। यहां पर मृग बालिका के उदाहरण से नारी और मृगबालिका को समकक्ष सोचा गया है - नारी का शरीर ही एक नदी है। चाहे जहां से स्पर्श करो, दसो उंगलियों में सुन्दरवन का डेल्टा बन जाता है। उनमें लोलुप बाघ-चीते घूमने लगते हैं। धमनियों और शिराओं में समुद्र पछाड़ खाने लगता है। जबकि मृगबालिका का स्पर्श निर्वैयक्तिक प्रकृति के आवेगहीन अंग का स्पर्श है, जिसमें उल्लास है। कोमलता है, गुदगुदी है, शान्ति है- पर आवेग नहीं, भूख नहीं, लोलुपता का ईहामृग नहीं। इस मृग कन्या के स्पर्श को वर्णित किया गया है।

'कवि प्रेत ने कहा'[40] शीर्षक निबंधानुसार कवि कहता है कि उसने मनुष्य की उदात्तता और विकृति को विविध स्थितियों में रखकर परखा है। प्यार के जितने रूपांतर संभव है उसने प्रस्तुत किये हैं। एकान्त समर्पण। बासंती विदग्धता, अबोध सुकुमारिता, तीव्र वासना, वाग्विदग्धता, अबोध करुणा, हेमंती वासना, रिक्त प्रवंचना आदि भावों के परिवेश में प्यार की उदात्त से उदात्त और विकृत से विकृत स्थिति प्रस्तुत की है। राणी एलिजाबेथ जिसे चाटुकार सभासदों और स्पेंसर जैसे कवियों ने रहस्यमय सूफी प्रेमिका, चिरन्तन रूप का प्रतीक एवं महफिल की शमा कहा है। वह सूफी कर्म अर्थों में नहीं बल्कि कुरूप अर्थों में 'शमा' थी। यहां पर रानी के चरित्र ने इंगलैण्ड के युगधर्म को उसी तरह प्रभावित किया है जैसे विक्टोरिया के आदर्शवादी

चरित्र ने विक टोरियन युग को । इस युग के नाट्य कला की सर्वोत्तम थीम थी । `प्रतिशोध` षडयन्त्र । यह युग लालसा, उद्दाम वासना तथा क्रूरता का युग था । लालसा और क्रूरता का आस्वादन एक तरह का `आत्मपीडन` सुख है यह भावों को उद्वेलित करने से मिलता है । यहां पर नायक का तात्पर्य केवल राजशक्ति से नहीं बल्कि सामाजिक विकृती से भी है । इस शंका, ईर्ष्या, सन्देह के दुग्धपूर्ण व्यूह में पडे प्यार की ही अंतिम जीत होती है। अंत तक प्यार मरता नहीं । डिसडिमोना या कार्डेलिया की मृत्यु उन्हें और महत् एवं सुन्दरतर कर देती है । `राघव करुणो रस:`[४१] शीर्षक निबन्धानुसार नये साहित्य में करुण रस की नवीनतम स्थिति है । निर्वासन, विश्व स्तर पर आज मनुष्य इस निर्वासन व्यथा को वास्तविक रूप में भोग रहा है । राम उसी तरह अकारण निर्वासित हुए थे जैसे आज का मनुष्य । राम के निर्वासन का चरम रूप सीता हरण के पश्चात् और लंका अभियान के पूर्व के मध्यान्तर में मिलता है । वाल्मीकि के अनुसार यह असह्य दु:ख मिट नहीं पाता इसे भोगने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं , कोई विकल्प नहीं । परन्तु तुलसी इस यातनामय निर्वासन और आत्मसंघर्ष के बीच से नायक को शान्त बिंदुकी ओर ले गये हैं जो आत्म संघर्ष वाल्मीकि के वर्षावर्णन में है वह तुलसी के वसंत वर्णन में है । वाल्मिकी का चित्र मानवीयता की दृष्टि से तुलसी से अधिक वास्तविक लगता है । जीवन में दोनों चित्रों का अस्तित्व है और दोनों वास्तविक हैं । राम किसी मोह से बंधे नहीं हैं । भरत और लक्ष्मण उनकी दोनों आंखों के तारे हैं मैथिली उनके हृदय की सहज सांस है पर इतना होते हुए भी जब चरम बिंदु आता है तो न किसी का भी त्याग कर सकते हैं । उनके मन में न तो काम की उत्तेजना है , न क्रोध की । रचना के लिए सृष्टि के लिए अकेलापन आवश्यक है । पर अकेलापन और चीज है अजनबीपन और । राम निर्वासन तो भोगते हैं पर `अजनबीपन` की यातना उन्हें नहीं भोगनी पड़ती । राम का जीवन साक्षात् करुण रस है । वे ईश्वर की तरह अनासक्त, तटस्थ और महिमामय है तो मनुष्य की तरह धीर, वीरा गंभीर हैं ।

प्राकृतिक निबंध :

प्रकृति को लेकर भी कुबेरनाथ राय ने अनेक सुंदर निबंध लिखे हैं । `पुन: हेमन्त कीसन्ध्या` शीर्षक निबंध में हेमंत ऋतु का वर्णन किया गया है । अगहन, पूस, हेमंती विषा

कापांडुर काल है । इसी काल में सरित पत्रों के मध्य देव शिशु मसीहा का अवतरण होता है । मनुष्य की भूमिका में यहां पर इतिहास के इस काल लग्न में `प्रवेश-निषेध` टंगा है । मनुष्य की जन्म सहोदरा राह रातदिन रटने लगती है `हे मेरे सहचर, हे मेरे प्रिय सतीर्थ, मैं चल रही हूं पूर्वी उत्तरप्रदेश के ग्राम में जहां भग्न कूपों और टूटे खण्डहरों के ब्रह्म राक्षस गण अपना दुःख सुनाने के लिए हमें भेज चुके हैं । यदि हम न पहुंचे, तो वे ब्रह्मराक्षसगण ~~अरर~~ बार-बार रुदन करने लगेंगे । उनके आंसू पोंछने चलना ही है ।`[४२] कुछ प्रगतिशील वामपंथी लेखकों ने कहा है कि समाज विकास की दृष्टि से जब साम्राज्यवाद ही सभ्यता का नया चरण था। जनतंत्र की प्राचीन पद्धति अपनी व्यावहारिकता खो चुकी थी । हेमंत की इन्हीं संध्याओं में बाबा पुआल पर बैठकर रामायण महाभारत की चर्चा करते थे । नीम के पेड़ के नीचे `कउड` एकाएक भक से जल उठता है गोया प्रकाश अट्टहास कर गया । नीम की डाल की पत्तियां भय के मारे ऐंठ गयी हैं। वातावरण दगदग लहक उठा है । सर्द हवा कांप उठी है । हेमंत और शिशिर दोनों ऋतुओं के दिवस रात्रि के स्वभाव में एक मेल है । हेमंत का अर्थ होता है हेमंत और शिशिर दोनों ऋतुएं । इसीलिए ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में पांच ऋतुओं की चर्चा की गयी है और सम्पूर्ण शीतकाल को चतुर्मास ऋतु माना गया है । `मधु -माधव पुनः पुनः` शीर्षक निबंधानुसार हम हेमंत के विषाद को बूंद-बूंद पीते हुए फाल्गुनी चैता की, मधुमाधव की, चैत्र वैसाख की प्रतीक्षा करते हैं । और हेमंत ऋतु में ही वसंत के आगमन की तैयारियां करते हैं । अभी माघ बीता भी नहीं था कि यह `मर्दवा` आदमी कोकिल कूकने लगा। इसकी कूक में कस्तूरी मृगों की, चंदनबनों की या दारुचीनी वनों की गाथा छिपी है । वसंत में क्रोध को जरामरण से मुक्ति दिलानेवाला कहा गया है । निबंधकार के मन में जन्म-जन्मान्तर के स्वातिजल जैसी तृषा उठती है इतना ही नहीं वे ~~बे~~ चैता के धूप सी तनु ज्योति से कामांध हो उठते हैं। फागुन का संदेश ही रति है, चैत कृष्णमास और वैसाख को वैष्णव लोग `राधामास` कहते हैं । विशाखा का अन्य नाम है `राधा` और `राधा` के बाद का नक्षत्र है अनुराधा।

आज के नये फाग होली के गानों का स्मरण करते हैं तो लगता है कि सचमुच ही आधुनिकता का एक अर्थ बर्बरता का पुनरुत्थान भी होता है । हम भारतीय हैं अतः हम भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का सामंजस्य करके चलते हैं । हमारी संस्कृति, धर्म, साहित्य और शिल्प इसका प्रमाण है । मधुमाधव हमें स्वयं मधुमय होने के लिए प्रेरणा देता है । एक दूसरे के प्रति परस्पर मधुमय होने के लिए और ऐसी प्रार्थना के लिए कि हमारा उत्तरकाल मधुमय हो ।

'हेमंत की संध्या'[43] शीर्षक निबंधानुसार हेमंत का सबसे बड़ा आकर्षण है पत्तियों का पीला पड़ जाना, और जरा सी हवा डोलने पर भूपतित हो जाना । यहां पर इसके बाद हेमंत की धीरे-धीरे उतरती हुई ठण्डी सांझ चित्रित है । सांझ में पेड़ों के सिर पर ओस की मोटी तह बादलों की सी जम गई है । दिन भर हाटबाट की गली-कूचों की खाक छानने पर भी मनुष्य जब अपने आपको नहीं पाता, उसकी मनचाही उपलब्धि नहीं होती, तो वह निराश हो जाता है । दीन हो जाता है । जीवन में प्रसन्नता के क्षण बहुत ही मंहगे होते हैं । ऐसे मामूली क्षणों का भी अमित मोल है । जो हल्की सी उष्मा के द्वारा देह-मन को स्फूर्त या पुलकित कर देते हैं । 'मधुमाधव' शीर्षक निबंधानुसार प्रकृति का वर्णन हुआ है जैसे कि निदाघ में बरसती आग, जलती धरती और तृप्त आकाश दुःखमय होते हुए भी तथ्य है ।कालपुरुष की वै सांझें उसे पूर्वार्ध के वसंत से ही मिली है । ये प्रतीक निबंधकार को अपने पूर्वार्ध से ही मिले हैं। फूली हुई सरसों के खेत और बौराये आम, सरसों का पीत वर्ण सौन्दर्य आत्मा में उल्लास भर देता है । वसंत उल्लास की ऋतु है । वैष्णवों ने इसी उल्लास को रस की दीक्षा का माध्यम बनाया है । पावस के श्याम मेघों और श्यामल हरीतिमा में इसी लालसा का प्रबल वेग नित्य फूटता रहता है । वसन्त श्री में निरन्तर उल्लास है - प्रफुल्लता है, पर उत्तेजना नहीं है । फागुन गान का वर्णन किया है पल्ली जीवन की उल्लास साधना सर्वत्र सूख रही है । परन्तु रवीन्द्रनाथ ने ~~पहले-सं~~ पल्ली संस्कृति की

रस सरिता को बंगाल में छिछली होने से बचा लिया । इतना ही नहीं उन्होंने पल्ली संस्कृति के रस संस्कारों के आधार पर ही अपना कृतित्व स्थिर किया । रवीन्द्रनाथ के उत्तरार्द्ध के गीत एवं गीत नाट्य दोनों अब पल्ली लोकजीवन में प्रवेश पा रहे हैं । औद्योगिक विकास के साथ-साथ बौद्धिकता का दायरा बढ़ता जायेगा-बौद्धिकता ही युगधर्म बनेगी ।

'सनातन नीम'[४४] शीर्षक निबंध में नीम के वृक्ष का वर्णन किया गया है । यह नीम का वृक्ष निबंधकार के आंगन में बरसों से खड़ा है । यह नीम ऋतुप्रिया के अलग-अलग भावों को अपने में ग्रहण करता है । दिन की गरमी से व्यथित हम इसके नीचे रात को खाट बिछाकर सोते हैं, और रात में इस पर श्रृंगार उतर आता है ।चन्डीथान के नीम पर सन्ध्या होते ही गगनचरों की भीड़ लग जाती है, वृक्ष की डाल-डाल पर पक्षियों की सभाएं जुट जाती हैं और नीम की पंक्तियों,टहनियों और फुनगियों पर साहित्य छाने लगता है । अलग-अलग ऋतुओं की हवा का यहां पर वर्णन है । पूर्वा हवा के चलने से अंग अंग दुखता है । कच्चा घाव और पकता है। यह हवा बादलों को लाती है । घटा घिरती है और पानी बरसता है । भौंहों के शरासन तन जाते हैं, इसके बाद में फागुनी हवा, चैत और वैसाख जेठ का वर्णन है । इस वैशाख जेठ में तीव्र प्रखर, ज्वलन्त बवण्डर उठते हैं और हवाओं के इन सारे कुतूहलों और उल्लासों का कुरुक्षेत्र है यह नीम का पेड़ । इतना ही नहीं ये हवाएं भटकते हुए प्रेत हैं, नीम का पेड़ माध्यम । फूलों का परिचय भी दिया गया है धतूरा और जबाकुसुम मानों दिनकर की कविता हो । सफेद कचनार अज्ञेय जी- के बुद्धिवादी प्यार का प्रतीक, पारिजात सुमित्रानंदन पंत की कविता, तो रसाल मंजरी को प्रसाद जी का सौन्दर्यबोध कहा गया है । और अंत में नीम का मामूली फूल साहित्य की नयी विधा का प्रतीक माना गया है । ~~कं~~ आछी का पेड़ ~~क~~ 'पैशाची जरथुस्त्र और मैं'[४५] शीर्षक निबंध मेंनिबंधकार ने आछी के पेड़ का वर्णन किया है । इस पेड़ की आकृति सादे आसमान की पृष्ठभूमि पर ऊंटनुमा प्रेतयान की तरह लगती है । रात के सन्नाटे में यह इन्द्रजाल बदलता सा ज्ञात होता है ।

गोया एक कमरझुकी वृद्धा खड़ी हो । यह आकी का पेड़ ऊँची सतह पर है और उस पर ढालू होने की वजह से लगता है कि यही धरती का अंग है, यही धरती और आकाश के महामिलन का गवाह है । जेठ-बैसाख के महीने में सुबह से शाम तक लू बहती है, तब यह आकी का पेड़ सुगन्ध के झोंके पर झोंके झोंके हमारी ओर भेजता है फिर भी इस सुगंध से मन को शांति नहीं मिलती । यह पेड़ अक्सर गंदी या पुरानी जगह पर उगता है । इसके बाद भादों की डायन रात का वर्णन निबंधकार ने किया है । प्रकृति का वर्णन करते हुए बताया है कि इस रात में बाहर घुप्प अंधकार है तो ऐसा लगता है कि सारे अस्तित्व समाप्त हो गए हैं । मायारूपधारी कामपुरुषों और नारियों के समूह का वर्णन किया गया है । यहां पर आकी का पेड़ सगुण है ऐसा भी बताया है बाहर बड़े जोर से बिजली कौंधती है, क्षण भर के लिए आकी का पेड़ और आसपास की धरती और आकाश दिखाई देता है । निर्गुणता का बोध नहीं होता । जीवन और मृत्यु के दो जगत हैं। एक प्रत्यक्ष और दूसरा कब्र के नीचे है । महान मृत्यु इन दोनों को मिला देती है । सुख की कामना जो करे वही शूद्र है, दु:ख जितना बड़ा होगा, हमारी गरिमा भी उतनी ही बड़ी होगी, सबेरा हुआ, धरती सगुण और साकार हो उठी है ।

'निर्वासिन और नीलकण्ठी प्रिया' शीर्षक निबंधानुसार वसंत ऋतु का वर्णन किया गया है । इस ऋतु में एक ओर आम के टिकोरे लगते हैं, दूसरी ओर फसल कटती है । प्रकृति में कहीं वय: सन्धि, पूर्वराग और नोंक-झोंक है, तो कहीं गर्भाधान और नयाजन्म है । इसमें श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र आदि सब मिल-जुलकर महाबोध या महारस व्यक्त करते हैं । रवीन्द्रनाथ ने सोना पैदा करनेवाली एक यक्षपुरी की कल्पना की है । उस यक्षपुरी का एक राजा है, जिसका जीवन निबंधकार के निर्वासिन की तरह ही दु:खमय है । रवीन्द्रनाथ 'अकेलापन' के कवि हैं । अकेलापन में आवश्यक नहीं कि निर्वासिन ही हो । 'टैगोर' ने साहित्य में न जिज्ञासा उठायी और न उन्हें नया

उत्तर खोजना पड़ा । पर संपाती का यह निर्वासन उसकी विशेष स्थिति मात्र है । निबंधकार इस `निर्वासन` से मुक्ति चाहता है । कोमल लाल पत्तियों का रंग हरिताभ हो चला उनमें नशे की तरह हरीतिमा प्रवेश करने लगी । मन को वायु के समान चंचल कहा है जो व्यथा की एक गांठ ढीली होते ही सप्तावरण भेदकर कौए की तरह उड़ता हुआ तपोरता उमा के पास पहुंच गया । शांत जल में उसके (उमा) मुख की छबि की परछाईं उभर आयी है जो उसकी ही सांसों से थोड़ा-थोड़ा हिल रही है लगता है दूसरा कमल पानी में प्रस्फुटित हो गया है ।

`सम्पाती के बेटे`[४६] शीर्षक निबंध में प्रकृति का वर्णन किया गया है। इसमें चित्रा और स्वाति नक्षत्र के आगमन के साथ गृद्ध युग्मों के कामसीत्कार के घोर रव सुन पड़ते हैं । गृद्ध शाक्त पक्षी है । समरभूमि में नर्तन करनेवाली योगिनियों-डाकनियों का लीला शुरू है । इसका भाव सम्बंध जरा और मृत्यु के साथ है । इसे देखकर हमें पता ही नहीं चलता कि इसके अंदर भी बचपन और जवानी आते हैं । दरअसल रसों को विधाता ने मुक्त हस्त होकर सबको बांटा है । गृद्ध की तरह मनुष्य समाज में भी दूरदर्शिता और दृष्टि की विशालता , धृष्टता के साथ जुड़ी है । यहां पर वृद्ध और गृद्ध का ध्वनि साम्य है । गृधों की `अपार दृष्टि` के उल्लेख का सम्बंध सम्पाती से है जो इस महाकुल का पुराणपुरुष है । जटायु और सम्पाती दोनों भाई आकाश मापने और सूर्य को छूने का साहस करके उड़े फिर आगे चलकर एक ऐसा बिन्दु आया जहां निरावरण तेज असह्य हो उठा । पर निरावरण तेज, निरावरण नग्न सत्य और निरावरण सौन्दर्य को भ सभी कोई बर्दाश्त नहीं कर सकते । सम्पाती का अहं उसे तेज और सौन्दर्य को आवरणहीन नग्न रूप में स्पर्श करने के लिए प्रेरित करता है । फलत: उसके पंख भस्म हो जाते हैं और वह धरती पर गिर पड़ता है । हर एक साहित्यकार थोड़ा-बहुत सम्पाती होता है । पैगम्बर या साहित्यकार को ऐसे संपाती कहा है जो पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते-पछताते नहीं ।संपाती सदैव पैगम्बर बनने की चेष्टा करते हैं ।सदैव नयी लीक खोजते हैं। पंख जलाते हैं, फिर भी

वह लघुता और क्षुद्रता की सीमा में अपने को आबद्ध नहीं मानता । मनुष्य बड़ा अजीब है । केवल 'तथ्य' ही नहीं है । उसका शेष तथ्य से आगे जाता है ।

'जीवहंस की रात्रि प्रार्थना'[४७] शीर्षक निबंधानुसार शिशिर अमावस्या की अंधकार में डूबी रात का वर्णन किया गया है । इसी रात को वे धूमधूसर सत्ता कहते हैं । यह तरल, पिघलती-तमसा मणि जैसी रात है हर मनुष्य इसके आगे एक अपरिमित लाचारी और अटूट मोहपाश का अनुभव करता है । ऐसी रात में कोई अदृश्य शक्ति है जो सारी सृष्टि को असहाय कर डालती है । यहां पर शिशिर की रात सावन-भादों की पैशाची अंजना रात्रियों से भिन्न है- पावस की अमावस्या एकांत कालीथान जैसी रात है, परन्तु शिशिर की अमावस्या इससे भिन्न है- यह काम रात्रि है, मोह रात्रि है । यह शिशु को तिलतिल करके पुष्ट करती है और तरुण को तिलतिल करके जीर्ण करती है । निबंधकार निंद्रा को मां महामाया आरोग्य स रूपिणी मां । उपचार रूपिणी मां कहकर प्रार्थना ~~करते~~ करते हैं । इतना ही नहीं यहां पर अमावस्या के दोनों रूपों का प्रतिक है । आसुरी तमसा का प्रतीक नहीं। बल्कि तमसा के काले आवरण में निहित विश्राम, श्रान्ति, क्षमा, आरोग्य और सुख की मंगलमय अवस्था का प्रतीक है । इसी से निंद्रा को महामाया कहा गया है । रात्रि की इस अद्भुत भूमिश्र को समझने के लिए वेदान्ती मन की आवश्यकता है ।रात्रि तथा दिवस परस्पर विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। अत: दोनों का पारस्परिक सामंजस्य ही वांछनीय है । परम प्रकृति की भौतिक और प्राणस्तर की महत्तम उपलब्धियां इसी कालखण्ड में निहित हैं ।

'ओ अभय हस्त ओ दक्षिणपाणि'[४८] शीर्षक निबंधानुसार वर्षा ऋतु का वर्णन किया गया है । वातावरण पर अविराम झड़ी की पारदर्शक यवनिका लगी थी और वातास का उपद्रव उसी भांति चालू था । सप्ताह व्यापी दुर्दिन के बाद धूप का आगमन एक उत्सव सा जान पड़ा । मानों प्रकृति हंस उठी । आकाश का वर्ण मस्तक

नील हो उठा और तेजस्वी सूर्य हीरक खण्ड सा जलने लगा । इस तरह वर्षा ऋतु में वर्षा के समय की और वर्षा के बाद की प्रकृति चित्रित की गई है । मनुष्य जाति द्वारा की जानेवाली निरन्तर शिशु हत्याओं का इतिहास हमारे सामने प्रकट होने लगा । कभी व्यक्ति की काम लोलुपता, कभी दीन ईमान, कभी औद्योगिक क्रांति तो कभी `नाजीप्रोग्राम`, तो कभी `कम्युनिस्ट पर्व` तो कभी विश्व क्रान्ति के नाम पर इतिहास में बार-बार शिशुमेध घटित हुआ और यहां मां, जननी, यह धरित्री, यह मृतवत्सा वसुंधरा साक्षी बनकर देखती रही । धैर्य ही जीवन का स्रोत है। आस्था और धैर्य के माध्यम से भय, आतंक और हताशा तीनों का बोध हमारे अस्तित्वगत बोध से सम्मूल है भागवत धैर्य और आस्था का काव्य है । महाभारत भारतीय अस्तित्ववाद को व्यक्त करता है, जो ट्रेजेडी होते हुए भी नास्तिक दर्शन से सर्वथा भिन्न है । आज की स्थिति में भी एकमात्र वही पंथ है, `अस्तित्व` से `परम अस्तित्व` की ओर जाना । यहां पर असल और चरम प्रश्न है मानव संस्कृति के गर्भ बीज की रक्षा का । और वह सम्भव है भक्ति द्वारा । `शरदबांसुरी और विपन्न मराल`[४६] शीर्षक निबंधानुसार शरदपूर्णिमा एक अनामा षोडसी है । सरस्वती जैसा जिसका रूप है, लक्ष्मी जैसा जिसका हृदय है, पार्वती जैसा मन है, जो एक क्षण भर पहले ज्योत्सना रात्रि थी । एक घटना थी, एक निर्मल कालप्रवाह थी, एक निर्गुण निर्वैयक्तिक अनुभव थी । यहां पर कार्तिक की शरद पूर्णिमा है । जिसे विशाखा नक्षत्र का काल कहा गया है । कार्तिक की कुहू को लक्ष्मी उत्सव होता है और कार्तिक की `राका` को राधा उत्सव यानी रास पूर्णिमा कहा है । यह कार्तिक पूर्णिमा ही शरद का सबसे अनुपम काल है । वर्ष में दो बार सारी धरती क्या प्रत्येक पुरुष-नारी का हृदय वृन्दावन बन जाता है । राधा परवर्ती काल की कल्पना है तंत्र इसे आह्लादिनी शक्ति का प्रतीक मानता था । `राधा` शब्द को मात्र आभीर लोकगीतों की उपज मानना गलत है । इसके बाद `मराल` को सम्बोधित करके कहा गया है, कि मराल तू लौट जा मानसरोवर में । मराल विपन्न है विकल है वैसे ही जैसे संस्कारों का, चरित्र का और

काव्य कला, शिल्पदर्शन का विकास ध्यानयोग के मध्य ही होता है । व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के जीवन में इसका महत्व उत्पात, इनकलाब और नारेबाजी से अधिक है । संस्कृति, साधना, कला, ज्ञान, सामूहिक विवेक आदि के प्रतीक कमल और मराल - सरोवरों के निवासी हैं ।

`जन्मान्तर के धूम्र सोपान` शीर्षक निबंध में सर्दी का वर्णन है । `सुरा आठ बजे से ही सीधा पड़ने लगता है ।` ऐसी ही रातों में कभी-कभी बूढ़े रामनरेस मिस्त्री रजाई में दुबककर करवट लेते हुए कहते हैं : `उंगलिया बाहर निकालने पर फटने लगती हैं । माघ की रात क्या है, अफीम है अफीम ।` यही माघ रात है जब जवानी में कलेजे के भीतर बोरसी जलती थी ।` फिर कहते हैं `दो गंजी पहन लेता हूं कि कहीं दिल ही ठंडा न हो जाये । दिल को तो गरम रखना ही है, नहीं तो सीमेन्ट में मोर फूल और लत्तर कैसे काटे जायेंगे ?`[५०] गर्भाधान और प्रसव का क्षण निरावरण क्षण रहता ही है । माघ की शिशिर रात्रि उस आदिम रात्रि प्रथम गर्भाधान क्षण की रात्रि की वैसे ही `हमशक्ल` या समानरूपा` लगती है ।` जिस काम की प्रेरणा से सभी देहधारी जन्म पाते हैं जो कामोन्माद के रूप में सभी को उन्मत्त कर देता है । उस कामरूपी विष्णु को नमस्कार ।`[५१] सृष्टि के जन्म की कई कल्पना ही विष्णु के साथ जुड़ी है । विष्णु के प्रासाद को ही भोग कहते हैं । जब कि शिव के प्रासाद की संज्ञा कुछ विशेष स्थितियों को छोड़कर `निर्माल्य` है । आधुनिक विज्ञान सृष्टि के गर्भाधान और प्रसव के लिए किसी `पुरुष ` या `अल्लाह` या `परसनल गाड` की आवश्यकता नहीं मानता । विज्ञान वहीं तक सक्रिय है जहां तक गिना जा सकता है या मापा जा सकता है या तौला जा सकता है । मात्र मन जिसका पुरानी संज्ञा है, `हृदय` जो सबसे बड़ा है ।

`तृषा तृषा अमृत वर्षा `[५२] शीर्षक निबंधानुसार सृष्टि में एक अजीब सी बात है कि नशा और विष तन में ही रहता है । परन्तु हृदय के पुण्डरीक में विष नहीं होता-उसमें तो जीवन के असंख्य दाने भरे पड़े रहते हैं । पोस्ते की फूली में भी यही बात

है । मृत्यु और उन्माद के प्रतीक इन फूलों से सबेरे ही सबेरे शिवालय का अर्घा भरा जाता था । गाजीपुर जिले में सफेद फूलों वाले पोस्ते ही होते हैं पर मालवा या अन्य जगहों पर लाल फूलों वाले पोस्ते बोये जाते हैं । इन हजारों फूलों में कोई एक कुसुम्मी हो गया । यह रंग अनुराग का रंग है । वैष्णव रस शास्त्र में राग की प्रगाढ़तम और आंतरिक स्थिति में उसका रंग लाल माना गया है । आज देश की परिस्थिति ऐसी है कि साहित्यिक और राजनीति में `कृष्णतरण` पैदा होकर रहेंगे । मूल समस्या है कल्पना को कविकर्म के केन्द्र में पुन: प्रतिष्ठित करने की पर इसके लिए प्रकृति और नारी दोनों के सम्मोहन से आहत होने की क्षमता की, नारी प्रेम से पुन: संजीवन को प्राप्त करने की क्षमता की जरूरत होगी । आज पश्चिमी साहित्य से श्वेतांगिनी यानी नारी निर्वासित है । काफका, टामसमान, कामू, सात्र आदि के नारी पात्रों में नारीत्व की सहज और `स्वस्थश्री` का अभाव है ।

`जल दो स्फटिक जल दो`[53] शीर्षक निबंधानुसार भारतीय नारी कटाक्ष पात या चितवन में माहिर होती है सुन्दरता दरिद्र रह जाती यदि ये भारतीय आंखें प्रकृति द्वारा नहीं रची गई होती । वही अनोखी स्थिति हिन्दुस्तानी पावस की है । प्रेमी, सखा, दाता, बन्धु, विदूप, व्रज, देवता और कालमूर्ति की मुद्रा में हिन्दुस्तानी मेघ हमारे सम्मुख आता है । आषाढ़ पूर्व से लेकर कार्तिक के बाद तक पूरे छह मास तक । इस पावस में स्वाति न बरसे तो धरती की प्यास बुझती नहीं और चातक तो पूरे पावस भर प्यासा ही प्यासा रह जाता है । चातकभक्त है इसी से वह स्वाति का शुद्ध स्फटिक जल ही पान करता है वह माया के डाबर जल को नहीं पीता। वह मर भी जायगा तो भी इन्द्र से जल नहीं मांगेगा । निबंधकार के अनुसार स्फटिक जल मांगनेवाला व्यक्ति मन को शुद्ध स्फटिक शीला बनाकर ही इस याचना का अधिकारी बनता है । यह जल हीरे जैसा शुद्ध, निर्विकार, महार्घ तेजस्वी जल है । शुद्ध स्फटिक जल । हिन्दी भाषा में चातक बोलता है `पी कहां ! पी कहां `। असमिया भाषा में `रामक`ओ !`रामक-ओ` पर बंगाली भाषा में चातक बोलता है`फटिक जल` फटिक जल ।` अर्थात् `स्फटिक जल दो, स्फटिक जल दो ।` स्वाति का जल मिले तो ही चातक इसे ग्रहण करेगा, अन्यथा वह हठीला पंछी प्यासा प्यासा ही मर जायगा ।

`चित्र-विचित्र` शीर्षक निबंध में कृतुओं का वर्णन किया गया है। पावस कृतु पूरी होने पर धरती पर नयी हवाओं का जन्म हुआ है। यह हवाएं नग्न निरा-वरण, शिशुओं जैसी चपल और मुक्त हवाएं हैं। जैसे मन मे के कृतु परिवर्तन में असल चीज है मनोभाव। वैसे ही धरती के कृतु परिवर्तन में असल वस्तु है हवा का स्वभाव। और उत्तरा फाल्गुनी की हवा का स्वभाव गान-गन्ध-मान-मनुहार की दृष्टि से पावस से अनुरक्त है। इसमें वर्षा खूब फड़ी तूफान के साथ होती है हस्ता अवश्य ही शुद्धत: शरद्धि शरदकाल है। हस्ता वे के चार चरण हैं। हस्त के नवरात्र में ही देवी की आगमनी होती है। हस्ता बीतते बीतते चित्रा में वय: सन्धि की अवस्था आती है। स्वाति आने पर इसका यौवन अनुराग आर्द्र हो जाता है और विशाखा में चरमषोडशी रूप को प्राप्त होकर पुन: शिशिर में विलीन हो जाती है। सिद्धान्तत: हम षाटकृतु की चर्चा करते हैं। पर व्यवहार में- भारतवर्ष में चार ही कृतुएं जैसे कि वसंत, ग्रीम, पावस और शीत हैं। चित्रा की धूप बड़ी चटकीली और प्रखर होती है। कुआर की धूप ज्वर का स्रोत है, अश्विन की चांदनी भी चित्त को प्रबल रूप में जगाती है। अत: चित्रा की दोनों रूपकलाएं चित्त को चुरा लेती है। इसका दूसरा नाम स्वाति है। `मेघ मण्डूक और आदिम मन` [54] शीर्षक निबंधानुसार वैदिक धर्म मूलरूप में प्राणवादी हैं। देह से उर्ध्वतर है प्राण, प्राण से उर्ध्वतर है वबु मन। आर्य जैसे जैसे सिन्धु के पार पूर्वदिशा में बढते गये वैसे-वैसे मन और आत्मा के द्वार उद्घाटित करते गये और उस उनका स्वभाव वेदान्ती होता गया। शास्त्र में तो वर्षारम्भ चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से ही है। परन्तु व्यवहार में नये वर्ष का अनुभव वर्षा से ही वे करने लगे। जंगल में मंगल का सुहावना अनुभव वर्षा कृतु में ही होता है। अन्य कोई भी कृतु इतनी गुलजार और सुहावनी नहीं लगती। `रामचरित मानस` में वर्षा वर्णन के स्पष्टत: दो भाग हैं। दादुरधुनि की महिमा को गोस्वामी तुलसीदास वैदिक कवियों के उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण करते हैं। हिन्दुस्तानी वर्षा की फुहार में जब वैदिक मन भीग चुका तो सुहावनी दादुर ध्वुनि में एक दिन आर्यवंशीय कृषिकवि ने `देवस्यकाव्यम्` को आविष्कृत कर डाला। आज भी कहीं-कहीं वर्षा के आगमन के लिए मेढ़क की पूजा होती है। बात यह है कि सूक्त चरम बिन्दू पर आकर मण्डूक जैसे मामूली जीव को एकाकार

कर देता है । वैदिक ऋचाओं में जब कुत्ते से सामगान कराया जाता है, जब मण्डूक को देवता मानकर सूक्त गाया जाता है, जब परमदेदीप्यमान पुरुष की पुण्डरीक जैसी आंखों की तुलना वानर की गुदा के लाल रंग से की जाती है तो इन सारी शिशुपत अभिव्यक्तियों के पीछे महज अद्भुत रस या कौतुहल नहीं बल्कि अद्वैतवादी दृष्टिभंगी सन्यस्त मन सक्रिय है । विज्ञान में प्राण तत्व अभी तक रहस्य है । ~~ठठठ~~ प्राण की स्थूलतम अभिव्यक्ति है श्वास प्रक्रिया में रक्त संचार में और स्नायु प्रक्रिया में, इसका स स्थूलतम व्यायाम है प्राणायाम । आदिकालीन वैदिक साधना प्राणवादी थी। उसके लिए मधु महत्वपूर्ण है ।

'उत्तरा फाल्गुनी के आसपास'[55] शीर्षक निबंधानुसार वर्षा ऋतु का अंतिम नक्षत्र है उत्तरा फाल्गुनी । उत्तरा फाल्गुनी का अंतिम चरण जरा और जीर्णता ~~जीर्ष्ठता~~ का आगमन है । अर्थात् मनुष्य जीवनकाल की उत्तराफाल्गुनी से तुलना की गयी है । जीवन का वह भाग जिस पर हमारे जन्म लेने की सार्थकता निर्भर है । पच्चीस या ठेलठालकर पैंतालीस के बीच पड़ता है । यह काल गदहपचीसी के विपरीत एक क्षुरधार काल है। जिस पर ब चढ़कर पुरुष या नारी अपने को आविष्कृत करते हैं । अपने ~~कर्म~~ और धर्म के प्रति अपने को साथ करते हैं तथा अपनी अस्तित्वगत महिमा को उद्घाटित करते हैं । चालीसा लगने के बाद पैंतालीस 'यथास्थिति ' की उत्तरा फाल्गुनी चलती है । भाद्र की पहली नक्षत्र है मघा । यदि मघा में धरती की प्यास नहीं बुझी तो अगले नक्षत्र तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है । पूर्वा फाल्गुनी जो बड़ा ही व्यर्थ का नक्षत्र है इसके बाद आता है उत्तरा फाल्गुनी, भाद्रपद का अंतिम नक्षत्र जो मघा के बाद दूसरा उत्तम नक्षत्र है । पूर्वा फाल्गुनी द्वारा प्रदत्त विक्षिप्तता भी यौवनका ही एक अनुभव है । एक ग्रीक दार्शनिक की उक्ति है कि एक ही नदी में हम दुबारा हाथ नहीं डाल सकते क्योंकि नदी की धार क्षण-प्रतिक्षण और ही और होती जा रही है । काल प्रवाह भी एक नदी है और इसकी भी कोई

बूंद स्थिर नहीं । समाज और शासन में शब्दों के व्यूह के पीछे एक कपट पाला जा रहा है। परन्तु यह न तो क्रान्ति है और न समर । शासन और व्यवस्था के पुतलीघरों की मशीन कथाएं उनकी बूढ़ी उंगलियों के सूत्र संचालन से उब गयी है और उनकी गति में रह-रहकर छन्द पतन हो रहा है । परन्तु लेखक, कवि या सर्जक को यह बात भी गांठ में बांध लेनी चाहिए कि शत-प्रतिशत अस्वीकार से भी रचना या सृजन असंभव हो जाता है ।

`पाहन नौका` [५६] शीर्षक निबंधानुसार मनुष्य की पहली सेज भूमि है- और आखिरी शय्या नदी की धार ही है । यहां पर मल्हार का मन आदिम संस्कारों से ग्रस्त है । भोजपुरी आदि लोक भाषाओं में एवं बंगला आदि पड़ोसी भाषाओं में नौका और नौका नयन सम्बंधी तथा समुद्र और नदी सम्बंधी बहुत से शब्द हैं । नाव प्राय: शिशम की बनती है, नहीं तो सागौन की । परन्तु पूरी नाव शाल की नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि शाल बड़ा ही भारी होता है, और नाव के लिए हल्की और मजबूत लकड़ी चाहिए । गंगा, ब्रह्मपुत्र में मछली मारने के लिए डोंगी, पानसी तथा चण्डी नौकाओं का व्यवहार होता है । जो आकार में छोटी होती है । समुद्र में नौका को लहरों के बल पर सरकाया जाता है । परन्तु नदी में बाहुबल द्वारा डांड के बल पर। बड़ी लम्बी यात्रा पर जाना हो तो यात्रारम्भ के पूर्व मांझी की बहू आकर नाव को सिन्दूर और हल्दी से टीकती है। फिर नदी की पूजा होती है, प्रसाद भी चढाया जाता है तब यात्रा प्रारंभ होती है । संक्षेपत: जल, आकाश, अरण्य और पर्वत ही प्रकृति की उन्मुक्त लीला भूमियां हैं । `मुकुलोदगम` [५७] शीर्षक निबंधानुसार उत्तर भारतीय अशोक एक लहरदार पत्तावाला वृक्ष है जिस पर पतले पीताभ फूल लगते हैं, जिनका कोई व्यक्तित्व नहीं । असम में इस उत्तर भारतीय अशोक को `देवदारु` कहते हैं । हिन्दी में जिसे कनक चम्पा कहते हैं, पूर्वी भारत में वही मुक मुचकुन्द है । चारों ओर मुकुलोद्गम का उत्सव है । पश्चिमी हवा पूरे साज के साथ उतर पड़ी है ।

सुगन्धि बांटने और मेघों को निमंत्रित करने के लिए नन्हें से नन्हा जीव भी उपेक्षित नहीं। शास्त्रानुसार वसन्त का प्रथम मास चैत्र है। पर व्यवहार में फागुन से ही वसन्त चालू हो जाता है। परन्तु एशिया, यूरोप दोनों की भौगोलिक और ऋतुगत स्थिति को ध्यान में रखते हुए भारत और यूरोपीयन देशों में चैत्र अर्थात् मार्च मास से ही ऋतु चक्र और संवत्सर चक्र का समारम्भ मानते हैं। सारी यूरोपीय प्रकृति इसी ऋतु में तरुणी होती है। मास तीन तरह के होते हैं सौर, चन्द्र और सावन। पर धर्म, कर्म और लोक व्यवहार में चन्द्रमास की ही प्रधानता है। वास्तव में भारतीय मासों के नामकरण एवं दिनगणान की विधि यूरोपीय और यूरोपियन मासों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है।

'दक्षिणी मलया'[58] शीर्षक निबंधानुसार वसंत ऋतु में प्रातःकाल शीतल मंद सुगन्ध युक्त दक्षिणी पवन बहता है। उत्तर भारत के आदिम कवियों ने पवन को सदैव मर्दानै रूप में देखा है। तेजस्वी रुद्र इनका पिता है। अतः इनके भाल पर दीप्ति का त्रिपुण्ड विराजमान है। जब जब वैशाखी की तीव्र धूप नाचने लगती है या क्वार की धूप अपने तीव्र रूप आतप का प्रसार करती है तब तब ये मरुद्गण हिरण्यवर्णी हो जाते हैं। ये मरुद्गण बहुवर्णी हैं। बहुरूपी है- पर ये निरंजन नहीं। ये रात्रि और दिवस के प्रत्येक नाज-नखरे के अनुसार अपना रंग और पेशा बदलते रहते हैं। सरस्वती तट और यमुना तट के आर्य कवियों का आवाहन मय काव्य है मरुद काव्य। जैसे-जैसे आर्य मन इस देश की त्रिपुर सुंदरी रूपा परमा प्रकृति के संसं संसर्ग में आता गया, पूर्व में गंगा के किनारे किनारे और दक्षिण में नर्मदा, तापी, कृष्णा, कावेरी की ओर बढ़ता गया। उसका संस्कारगत रूपान्तर होता गया। 'विरजा नदी और मधुमय सूर्य'[59] शीर्षक निबंधानुसार प्रातः सूर्य का रंग ठण्डा, सुनहला और मधुवर्ण रहता है। सारी नदी मधुमय हो उठती है। यह नदी परमपद का झरता हुआ मधु है। नदी और धरती दोनों मिलकर रामचरित मानस के एक खुले पृष्ठ की रचना करते हैं। सारी सृष्टि प्रज्वलित गंभीरा में परिवर्तित हो गई है। मध्यान्ह के बाद संध्या आती है, ताप वही रहता है, पर तेज कम हो जाता है। सब कुछ ठण्डा एवं क्षमामय होने लगता

है । यह सूर्य सवेरे सोना और मधु पिघलाता है, तो शाम को इंगुर गेरु और स्नेह बिखेरता चलता है। सूर्य कवि है, हमारे भारतीय साहित्य का आदिनायक है यह ज्योति है जिसके सहारे पुरुष बचा रहता है । यह मधु है जिसके सहारे पुरुष अपने को निरुज और पुष्ट रखता है । 'उज्जड़ वसन्त और हिप्पी जलचर'[६०] शीर्षक निबंधानुसार नया वसन्त रीतिमुक्त पगों से विचरण कर रहा है । वर्षा और शरद, शिशिर और हेमंत मनुष्य को तरह तरह से विकल कर देते हैं । मदन और मलयानिल के बाद वसन्त का प्रिय सखा शम्बूक ।हल्दी मसाले के सांनिध्य से यह ऋतु और सरस हो उठती है । शम्बूक श्रेष्ठ दार्शनिक प्रतीक है । डुण्डुम सर्पों से लेकर मराल श्रेणी तक इसके बंधुवर्ग में आते हैं । हिप्पी सारी दुनिया की वर्तमान समाज व्यवस्था, आर्थिक, राजनीतिक तन्त्रों को पूर्णतः अस्वीकार करते चला है । दरअसल ये हिप्पी महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न अनास्था और पुराने मूल्यों के प्रति मोहभंग के वातावरण में अकाल पुष्प की तरह वैसे ही पनपे हैं जैसे 'बीटनिक' । हिप्पी मार्ग उपर से देखते हुए रहस्यवादी या सन्यास मार्ग भले ही लगे, भीतर भीतर यह लगता है कि गैर-जिम्मेदार भोगवाद है । सभ्यता जिस रूप में जिस दिशा में विकासमान हो रही है उसमें वैयक्तिक अधिकार लिप्सा, किसी भी क्षेत्र में नहीं रह जायगी और प्रेम के क्षेत्र में भी यह दिनन्दिन न्यून होती जायेगी ।

धार्मिक :

श्री कुबेरनाथराय ने विविध धर्मों, देवी-देवताओं आदि पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं ।

'पुनः चण्डीध्यान'[६१] शीर्षक निबंधानुसार भारत का आदि धर्म है तन्त्राचार और आदि देवता है 'चण्डी' । चण्डी शब्द मध्यदेशीय गंगा नर्मदा क्षेत्र के निषादों का दान ज्ञात होता है । यह मृगया की और रक्षा की देवी है । इसे अविवाहित कुमार विशेष रूप से पूजते हैं । सारा विन्ध्यारण्य और गंगा मैदान आर्यपूर्वकाल से ही महा-मातृका को भिन्न-भिन्न नाम रूपों से पूजता था । ग्राम देवता या कुलदेवता के रूप में । मंगलचंडी यह देवी का मंगलमय वधूवेश है । यह देवी का जगधात्री रूप है । सृष्टि जब तक

चालू है तब तक यह चण्डी वधू है, मंगला है, माता है। बंगाल में पूजित मंगला चंडी का रूप दुसाध कन्या का है। कुछ लोगों के अनुसार यह डोम बधू है। इसके एक हाथ में सूप है, दूसरे में बंका। चंडी हमारे बावन ग्रामकुल की 'डीह' देवता है। 'मैं तालपत्र, मैं भोजपत्र' शीर्षक निबंध में आज का दिन वसंत पंचमी का है। मधु-माधव की आगमनी का निमंत्रण दिवस है। शस्य लक्ष्मी का नवान्न पूजन दिवस है। देवी का गुरु गंभीर चिन्मय रूप सुरक्षित है पोथी में तो उसका नटखट प्रगतिशील रूप निहित है लेखनी में। तालपत्रों पर पक्की काली स्याही से, घने अक्षरों और 'बिरलपांत' में श्री विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ आज भी संगृहित है। संस्कृत काव्यों और स्मृति ग्रंथों को तालपत्र और भोजपत्र पर लिखने के लिए कोयल, काजल, गोंद, सुहागा और तेल को विविध अनुपातों में मिलाकर पक्की स्याही बनाते थे। आदिम कागज है मिट्टी की पटरी, मृत्पट्टिका। इस पर कीलों से अक्षर खोदकर पुन: आग में डालकर पका लेते थे। सिन्धु घाटी की खुदाई में मिट्टी की बहुत सी मुहरें प्राप्त हुई हैं। आज भोजपत्र का उपयोग होता है यंत्र-मंत्र में ही, अनार की टहनी की कलम बनाकर 'पंचगंधमसि' से देवलेख या तंत्र लेख को भोजपत्रों पर लिखा जाता है। भोजपत्र से अधिक मजबूत है 'तालपत्र'।

'शमी वृक्ष पर लटकते राव'[६२] शीर्षक निबंधानुसार शमी की पत्तियों को अग्नि जिह्वाएं कहा गया है। देवताओं ने अग्नि को शमी से बाहर निकाला और शमीवृक्ष को अग्नि का पवित्र वास नियत किया। शमी आत्म तेज धारण करनेवाली हमारी जातीय संस्कृति का प्रतीक है। भारतीय अस्मिता का विकास एक अविच्छिन्न सनातन प्रवाह के रूप में हुआ है। वैष्णव साधना का चरम विकसित रूप भक्ति और सन्तों का मानववाद है। वैष्णव धर्म प्रारंभिक रूप में वैदिक धर्म की एक साधना मात्र थे था। और विष्णु इन्द्रादि देवों के समकक्ष एक देवता थे। जिसे हम हिन्दूधर्म कहते हैं वह बौद्ध, जैन-सिख और सनातन संप्रदायोंकी सामूहिक संज्ञा है। हिन्दुस्तान की

प्रतिमा की उपज है और हिन्दुस्तान की जिजीविषा से इसका जैविक सम्बंध है। इस देश में अनीश्वरवाद बौद्ध धर्म के रूप में राज्य धर्म भी था। पर यह बुद्धिवाद नहीं, `ज्ञानवाद` का पोषक रहा। जगत में भौतिकवादी दर्शन, यांत्रिक मनोविज्ञान और भाव संवाद ने श्रद्धा प्रधान विश्वासों को पंगु कर दिया। दैवी शक्तियां जो विश्वास पर, श्रद्धा और यज्ञ पर जीवित रहती हैं आज अस्तोन्मुख हैं। मनुष्य इनके अभाव में अकेला पड़ गया है आज का जगत लघु मानवों का बृहत् भयत्रस्त समुदाय है। मनुष्य चूहे की तरह पड़ा है। उसका `स्व` प्रज्ञा से हीन चूहा व्यक्ति तत्व को पाकर अपनी ग्लानि से दबा हुआ है। आज देवता मरा नहीं है वह दिवस, रात्रि, सांझ, उषा के अंतराल में छोटे-छोटे क्षणों में जब जीवन की क्षण दर्द बन जाती है - अचानक स्पर्श करके हट जाता है। टी एस इलियट ने कहा है कि भविष्य दिन पर दिन बुद्धिप्रधान होता जायगा। अत: धर्म के अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे बुद्धि प्रधान बना देना आवश्यक है।`मनियारा सांप` शीर्षक निबंधानुसार गौड़ीय वैष्णव साधना मधुरभाव की साधना है। गौड़ीय वैष्णव रस शास्त्र में रति के तीन भेद बताये गये हैं- साधारण, समन सामंजस और समर्था। चैतन्योतर वैष्णव साहित्य में मान और प्रवास के कम पद हैं। पूर्व राग और प्रेम वैचित्र्य ही चैतन्योतर पदावली का मूल विषय है। आवेग की चरम स्थिति का आस्वादन और प्रेम की पारस्पारिकता यही दो तथ्य महाप्र महाप्रभु की रससाधना की नींव है। प्लैटो के अनुसार देवत्व का आरोपण प्रेमी में होता है प्रेमिका में नहीं। समस्त यूरोपीय साहित्य में रति का रूप एकांगी है। समस्त भारतीय कला ही युग्म भाव पर आश्रित है वात्स्यायन के कामसूत्रों का उद्देश्य ही है रतिबोध की पारस्परिकता का आस्वादन। आधुनिक साहित्य की जो भक्ति भावी प्रतिक्रिया होगी, उसका सम्बंध किसी न किसी रूप में रूमान एवं भावुकता से अवश्य होगा। भनु भावुकता सहस्त्रफण शेष है। वह हमारी सृष्टि के मूल में- कुण्डली मारकर बैठी है। शेषनाग जब एक फण से दूसरे फण पर धरती को लेते हैं तो भूकम्प आता है। उसी भांति भावुकता का शेषनाग भी फण बदलता है।

सृष्टि भावुकता के जिस फण पर क्लासिकल युग में थी, उसी पर भक्ति युग में नहीं रही । वैष्णवों की रस साधना जिस रति को हृदय के माध्यम से देखती है उसे वह बुद्धि और विज्ञान की दो आंखों से देखता है । उसके पास आवेग है, तृषा है पर इसे शीतल करने के लिए हृदय रस नहीं है।

'यक्षरात्रि'[63] शीर्षक निबंधानुसार उत्तरभारत में शैव पूजा और यक्ष पूजा के अंदर कई शताब्दियों तक गहरी प्रतिद्वन्द्विता चली थी । मत्स्य पुराण के अनुसार स्वयं महायक्ष कुबेर ही वाराणसी में आकर अपना वैभव संचयी एवं उद्धत यक्ष स्वभाव छोड़कर मंगलमूर्ति गणेश पद को प्राप्त कर गये, तो अन्य यक्षों की कौन कहे । यक्ष के शिवभक्त पुत्र हरिकेश थे । हरिकेश यक्ष की ट्रेजेडी हमारी सांस्कारिक ट्रेजेडी का प्रतीक है । यक्ष कामना प्रधान देवता है । उत्तरभारत में जिसे दीवाली कहते हैं बंगाल में उसे कहते हैं कालीपूजा । इसी दिन काल के आदिम बिंदु पर महाकाली का चौंसठ हजार योगिनियों के साथ अवतार हुआ था । 'नारायण-प्रतिनारायण' शीर्षक निबंधानुसार रामायण और महाभारत दोनों की नाभि मिथक है देवासुर संग्राम-दैवी और आसुरी जीवन दर्शनों का द्वन्द्व । राम धर्म के नारायण पक्ष के प्रतिनिधि हैं तो रावण धर्म के 'प्रतिनारायण' पक्ष का है । रावणहीन या नीच नहीं जैसा कि तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने कहीं-कहीं लिखा है । तुलसीदास भक्त थे और वाल्मीकि ऋषि । ऋषि दृष्टि सत्य से प्रतिबद्ध रहती है और भक्त दृष्टि भक्ति से । नारायण और प्रति नारायण दोनों के पीछे तप का बल रहता है । ईश्वर प्रकृति के भीतर रहते हुए भी उसके गुणों से परे असम्पृक्त रहता है । राम प्रकृति के साथ रहते हुए भी निर्लिप्त पुरुष है । वे माया के पशु नहीं-उनका उद्देश्य भोगातीत है। 'यह लो अंजुरी भर कामरूप' शीर्षक निबंधानुसार कामरूप से तात्पर्य उस प्राचीन कामरूप से है जिसके मुख्य नगर थे प्रागज्योतिषपुर और हरप्येश्वर । कामरूप का स्वभाव पुरुष प्रधान है । कामरूपी वैष्णव धर्म का उद्देश्य ही आल्हादन और मधुरोपासना नहीं, अनुशासन और दास्य भक्ति है । इसी कामरूप का एक नन्हा सा गांव है - जापारकूची । जापारकूची का अर्थ होगा मंजूषाकोष । यहां पर प्रत्येक घर प्रकृति

की चित्रशाला है , जैसे जैसे रात बीतती जाती है वह गांव अपनी आपबीती कहता है- दु:ख-सुख कहता है, बांह पकड़कर माया में खींचता है। यहां पर कामरूप के अंचल में प्रचलित नृत्यों की चर्चा की गई है। उनमें एकमात्र देवघनी नृत्य को छोड़कर शेष नृत्य स्वतंत्र नहीं बल्कि वादन या अभिनय के साजमात्र हैं। कामरूपी कृषि प्रधान संस्कृति की विशेषता नृत्य नहीं, बल्कि गीत है। कामरूपी संस्कृति का अवगाहन एक प्रवहमान नदी का अवगाहन है।

'सूर्य कवि है सूर्य नायक है'[६४] शीर्षक निबंधानुसार सूर्य स्वयं कवि है और पूर्व दिशा कवि भूमि है। प्रत्येक उषा उसके हृदय के पूर्वराग का श्लोक है। प्रत्येक मध्याह्न उसकी तृष्णा तृषारति और आर्तता को व्यक्त करता है। प्रत्येक संध्या उसका कामातुर पांडुर मुखमंडल है। कवि सूर्य और प्रेमिका धरती के बीच एक ऋतु व्यापी 'श्रीमद्भागवत' चालू है। इसी सूर्य या 'आदित्य' से भारतवर्ष के सर्वाधिक कवित्व-पूर्ण देव व्यक्तित्व विष्णु का विकास हुआ है। विष्णु अपने मूलरूप में द्वादश भारत के द्वादश आदित्यों में से एक है। उत्तरभारत में लोकायत परम्पराएं निम्न वैश्य और शुद्र श्रेणी में ही जीवित है। उत्तरभारत में सूर्य व्रत की शैली पौराणिक है। यहां पर व्रतकथा का संक्षिप्त रूप उदाहरण के लिये लिया गया है। इस प्रकार सूर्य हमारे मानस में नायक, प्रेमी, कवि और जन्म-लग्न के देवता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। 'झरते पर्णों का पर्णमुकुट' शीर्षक निबंधानुसार पीले झरते पत्तों के रूप में भी रुद्र को नमस्कार किया गया है। यहां पर हेमंत का वर्णन किया गया है। 'ध्यान' का महत्व वेदान्त और जैन दोनों स्वीकार करते हैं। वस्तुत: दोनों के मूल में एक ही कर्मकांड निरपेक्ष लोकायत परम्परा है। ध्यान के भीतर बोध मिलता है। ध्यान एक तरह का मानसिक एकांत है। प्रत्येक स्वस्थ मस्तिष्कवाले व्यक्ति में इस ध्यान की कमोबेश क्षमता विद्यमान रहती है। अपने युग के गर्भ में भयानक पाशविकता पल रही थी जो न केवल कामनाप्रधान हिंसापूर्ण कर्मकांड या यज्ञयागादि में अभिव्यक्ति पा रही थी बल्कि व्यक्ति और समूह तक उस पाशविकता से आविष्ट और ग्रस्त था।

जैसे सर्दी के मारे ठिठुरता हुआ कोई अग्नि कामकातर पुरुष। इसीलिए बुद्ध ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसके केन्द्र में देवता नहीं शीलाचार था। बौद्ध धर्म मूलरूप में उपासना परक धर्म नहीं-शीलाचरण मात्र है। बुद्ध ने जो शीलकेंद्रित धर्म प्रवर्तित किया, वह केवल वैदिक यज्ञ के प्रति प्रतिक्रिया मात्र नहीं था। धर्म दृष्टिहीन हो चुका था, वह तो कामनाप्रधान कर्मकाण्ड का पाखंड मर था। ध्यान लोक के प्रातिभ अनुभवों को वे भाषा में न कहकर मौन के द्वारा या कभी-कभी संकेतों से सांध्य भाषा में कह दिया करते थे।

'दृष्टि अभिषेक' में उमानन्द का वर्णन किया गया है। उमानन्द इस क्षेत्र की देवता महायोगिनी कामाख्या के भैरव है। यह त्रिपुर सुन्दरी है। पूर्णिमा रूपिणी है। सौन्दर्य और काम का चरम आधार है इसके तीन रूप हैं त्रिपुर बालिका, त्रिपुर कामिनी और त्रिपुर भैरवी। ब्रह्मपुत्र तिब्बती लोक कथाओं के अनुसार घोड़े के मुख से निकलता है। इसके बाद शुक्लेश्वर घाट पर भुवनेश्वरी का वर्णन है। इन्द्रदेव के अनुसार भुवनेश्वरी कामाख्या की दसवीं महाविद्या है। यहां की भूमि में यहां की मौसम में, हवापानी में सर्वत्र महायोगिनी का सूक्ष्म निवास है। भस्मांचल की पहाड़ी जिस पर भैरव उमानन्द का निवास है धरती से निकली है। अहोम राजाओं द्वारा बनाये मुख्य मंदिर के अगलबगल में दो तीन जीर्ण मंदिर हैं। कामाख्या की तरह इस मंदिर का शिखर भी बौद्ध और हिन्दू मंदिर शिखर का अद्भुत मिश्रण है। योगिनी तंत्र कहता है कामरूप में आकर प्रत्येक नारी की कामाख्या हो ~~जननी-~~ जाती है। बाद में शुक्लेश्वर घाट का वर्णन किया गया है। यह मूलत: पहाड़ी ही है। 'बुद्ध-जनार्दन' विष्णु की विशाल प्रतिमा है। चुटिया थे भारतीय किरात ~~समवंश-को~~ भोट मंगोलीय शाखा के वंशज, वे वीर और क्रूर दोनों थे। अहोमों ने चुटिया राजवंश को समाप्त किया। प्राचीन कामरूप के क्षेत्र का इतिहास चार मुख्य नगरों में विकसित हुआ है। कामतापुर, प्राग ज्योतिषपुर, हरुप्पेश्वर और गडगांव। यहीं से असमिया संस्कृति नालकमल प्रस्फुटित हुआ। कामरूप पार करके महानद ब्रह्मपुत्र प्रवेश करते हैं। ब्रह्मपुत्र गंगा से ग्वालन्दों के पास मिलते हैं और गंगा ब्रह्मपुत्र की संयुक्तधार को पद्मा कहते हैं।

ऐतिहासिक :

श्री कुबेरनाथ राय ने अनेक ऐतिहासिक निबंध भी लिखे हैं जिनमें उनका एक इतिहासकार का रूप दिखाई पड़ता है ।

`सनातन नदी : अनाम धीवर`[६५] शीर्षक निबंधानुसार भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था, `भिक्षुओं आँखें जल रही हैं, या सारा दृश्यमान जगत जल रहा है । देवलोक जल रहा है । यह जन्मान्तर प्रवाह जल रहा है, भिक्षुओं यह कौन सी सर्वभिक्षी आग है? यह आग रूप की है, भिक्षुओ सावधान यह रूप की लपट है ।` यहां पर महाधीवर के रूप में बुद्ध का उदाहरण दिया गया है । अनेक महाभिषजत्व की सार्थकता के लिए यह धीवर रूप एक अनिवार्य आवश्यक है । यह महाधीवर और महाभिषज परस्पर पूरक हैं। बुद्ध का आखेट कामना का आखेट है । यौवनकाल ही ऐसा है इसमें देह और मन किनारा तोड़कर रोधहीन बहने लगता है । मन फेरने यानी मन का आस्वाद बदलने का सर्वाधिक सुलभ साधन है यह कामरूपिणी नदी । ठीक वैसे ही ध्यान और मौन की कीमत होती है । ध्यान या मौन के मध्य ही व्यक्ति या जाति के नैतिक गुणों का विकास होता है । झूठ इस देश की आत्मा का सहज धर्म बन गया है । संघर्ष होता है- जातिवादी जीवन में और विज्ञापित होता है वर्ग संघर्ष कहकर । यह नदी माया है जो मनुष्य को सात नाच नचाने को बाध्य कर देती है । आज भारतीयता भारतवर्ष के मनुष्यों में भले ही नहीं, पर जलचरों, बनचरों और पेड़-पौधों में अद्भुत आकृति साम्य, रुचि साम्य और व्यवहार साम्य है । देहाश्रयी युग चेतना और साहित्य` टिप्पणी के अनुसार साहित्य एक अर्थ में मोक्ष है । अस्मिता को कामतृप्त करने का अवसर या तो शिल्प और साहित्य के माध्यम से ही मिल पाता है अथवा संन्यास भक्ति योग और श्रामण्य के माध्यम से । विविध पेशेवाले लोग अपने कर्म या शिल्प द्वारा इसी शरीर के रहते हुए प्रत्यक्ष जीविका करते हैं और अपना पालनपोषण दान-धर्म आदि करते हैं । यह जीविका उनके कर्म या शिल्प का प्रत्यक्ष फल है । अजातशत्रु भगवान बुद्ध से प्रश्न करता है कि

भगवान बु क्या इसी प्रकार का इसी शरीर के रहते हुए श्रमण या सन्यासी होने से भी कोई प्रत्यक्ष फल प्राप्त हो सकता है? बुद्ध के उत्तर का सार यही है कि यह श्राम्यफल या श्रमणात्व से प्रत्यक्ष लाभ मानसिक लाभ है। सन्यास साधना या श्रमणात्व की तरह साहित्य भी एक मानसिक कारबार है। इसका सृजन और आस्वादन दोनों मानसिक क्रियाएं हैं। साहित्य शिल्पादि हमारी अनेक मानसिक तृषाओं की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की तृप्ति और पूर्ति करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य के प्रारंभ में 'स्वान्त: सुखाय' कहकर साहित्य की इसी तृप्तकाम मनोभूमि और सुख को देनेवाली भूमिका की ओर इशारा किया है। मनुष्य पशु श्रेणी का जीव नहीं, परन्तु उसका अन्तव्यक्तित्व पशु से सर्वथा भिन्न है। ध्यानस्थ और अन्तस्थ होने की क्षमता केवल मनुष्यों में ही है। पशुओं में इसका अभाव है। रहस्य बोध और सौंदर्यबोध मानवमन की दो विशिष्टताएं हैं। आज सभी कहते हैं कि मनुष्य का 'व्यक्ति तत्व' सम्यता के हृदय में पलती हुई हिंसा और कपटाचार द्वारा खण्डित और ध्वस्त हो चुका है।

'कविप्रेत ने कहा : शेक्सपियर'[६६] शीर्षक निबंधानुसार नायक कहता है कि मैं प्रेत हूं मैं तब भी था जब 'इलियड' की रचना कर रहा था। ३००० या ४००० ई० पू० के आसपास यूनान के क्रीटद्वीप और उसके प्रतिवेश में ईजीयन सभ्यता का जन्म हुआ था। यह सभ्यता २००० वर्षों तक बिना किसी आक्रमण के उन्नति करती रही। पर ये नगर उत्तर यूनान के आर्यों की कुमारी कन्याएं और स्त्रियों बच्चों का अपहरण करके मिसर और सिन्धु उपत्यका के नगरों में गुलाम बनाकर बेचते थे। उक्त कारणों से या दस्यु वृत्ति से प्रेरित होकर इन उत्तरी आर्यों ने ईजीयन नगरों पर आक्रमण करना आरंभ किया। उसका विनाश किया और नयी सभ्यता की नींव डाली। इसे मिसिनीयन सभ्यता कहते हैं। यह मानना नितान्त भूल होगी कि 'इलियड' एक युद्धकाव्य है। यह तो मूलत: ट्रैजेडी है। कथाबन्ध की दृष्टि से यह नायक है और कथ्य की दृष्टि से ट्रैजेडी।

ईलियड`इलियड` का मूल रस है वीररस । ईलियड के देवता सर्वशक्ति सम्पन्न हैं । अत: ग्रीक जीवन दर्शन में देवराज से भी बढ़कर कोई शक्ति है तो यह है नियति का कुतुचक्र । भावुकता जीवन का अर्धसत्य भाग है । इस निबंध में समुद्रों का स्वामी, तूफानों का राजा आदि दैवी शक्तियां और एकिलीस आधुवियस ईनियास आदि पात्र है । `उतरो जब बन उतरो रथ बन`[६७] निबंधानुसार आज का बहुत प्रचलित `हिप्पी` शब्द भी लैटिन `हिप्पो` से आता है । जिसका अर्थ होता है`घोड़ा`। राजकीय मन्दुरा के घोडे लम्बोतर मांसहीन दृढ़ मुखाकृतिवाले, गोल कंठवाले, छोटे कानवाले तथा स्तम्भ की तरह उर्ध्वखड़ी ग्रीवावाले थे । बाणभट्ट का घोड़ा `रामोष्टिक` घोड़ा है । वह महाश्वेताओं के जगत में बिहार करता है । परन्तु इस घोड़े से भिन्न है वैदिक आर्य का तेजस्वी घोड़ा जो साक्षात्-धावमान गरुड़ या तेजस्वी सूर्य जैसा है । ऐसे शक्तिधर जीव के माध्यम से ही आर्यपितर विश्वव्यापी विस्तार करने में समर्थ हो सका । जिस प्रकार ब्राह्मण जब ध्यानासीत होता है तब वह तेज से तपने लगता है । क्षत्रिय जब कवच पहनकर खड़ा हो जाता है तब वह तेज से तपने लगता है । उसी प्रकार घोड़ा जब सवार को पीठ पर लेकर आक्रमणाकारी सर्प की तरह `फणन` करता है । फण काढे सर्प की तरह उछलता है तभी उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व और ओज `आकार` ग्रहण करके स्पष्ट होता है । वर्तमान हिन्दू धर्म मूलत: आर्येतर द्राविड़ निषाद किरात धर्म है । यह घोड़ा वस्तुत: कवियों की कल्पनाशक्ति और प्रतिभा का घोड़ा है । जो कभी `दधिक्रा` और `तार्क्ष्य` रूप धारण करता था । साहस और जिजीविषा का प्रतीक वैदिक अश्व अब पुन: त्रिसप्तु को लांघता हुआ इतिहास की खोपड़ी पर धावमान नहीं हो सकता ।

एक प्रति तीर्थंकर की कथा`[६८] शीर्षक निबंधानुसार मंखलि गोशालक का नाम बौद्ध ग्रंथ, सामञ्जफल सुत्त, और जैन ग्रन्थ, भगवती सूत्र तथा हिन्दू महाभारत-शांतिपर्व तीनों में मिलता है । तीनों में एक ही बात उसके मुंह से निकलवायी गयी है वह है नियतिवाद का दर्शन । गोशालक के पास चित्रफलक भी था, जिसको दिखा-दिखाकर वह क्षपणकों की भांति भीख मांगता था । गान रचता था, और अपना

धर्मोपदेश देता था । मंख के मत से जन्म लेना बड़ी व्यथा है। जन्म लेना माने क्लेश पाना । वर्तमान अपनीपन और अपचय को काटकर उद्धार पाने का कोई उपाय कोई दर्शन इनके पास नहीं था । बौद्धग्रन्थ, सुमंगला विलासिनी के अनुसार वह दास था और महाभारत के अनुसार वह कृषि कर्म में भी उतरा था । वस्तुत: उसके भीतर एक प्रतिमा थी, चिनगारी थी तो गरीब भाट का बेटा होने के कारण प्रतिपक्ष अपदमित होती रही । जैन ग्रन्थानुसार गोशालक की भगवान महावीर के साथ भेंट विश्वगाथा-पति नामक गृहस्थ के घर हुई थी। आजीवक तीर्थंकर गोशालक ही चरमशास्त्र और चरम आचार्य है । कालपुरुष ने उसे तीर्थंकर नहीं बल्कि 'प्रति तीर्थंकर' अर्थात् विदूषक के रूप में ही स्वीकृत किया । सुंदर एवं स्वतंत्र विश्व का अंत हो रहा था और उसके स्थान पर कुटिल लोभी विकृत व्यक्तिवादी शोषणमुख नये जगत का जन्म हो रहा था । फलत: आजीविक संप्रदाय का रूपांतर हो गया। भोगी और पाखण्डी संप्रदाय में। मंखलि गोशालक जिन धर्म का अंतिम चरम तीर्थंकर नहीं था परन्तु भारतीय चिन्ता के इतिहास में वह आधुनिकता का प्रथम तीर्थंकर अवश्य है ।

ज्योतिष विषयक :

श्री कुबेरनाथ राय ने ज्योतिष के विषय पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'दिवस सप्तक' शीर्षक निबंध में दांते और बासर दोनों ने दिवस सप्तक के सम्बंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं । वे दोनों मध्ययुगीन यूरोपीय कविता के दो श्रेष्ठतम शिखर हैं । दांते भाववादी है और उसका फलक विस्तृत है । परन्तु चासर यथार्थ के जाने-पहचाने जगत का व्यास है । प्राचीन 'भूकेन्द्रक ज्योतिष की मान्यता के अनुसार दिनमान चौबीस 'होराओं' अर्थात् चौबीस घंटों का होता है और प्रत्येक होरा का शासक एक एक ग्रह या नक्षत्र है । यह भूकेन्द्रक ज्योतिष ही टालेमी ज्योतिष कही जाती है । सारे यूरोप में यह टालेमी के ही नाम से चलती है । परन्तु भारतवर्ष में यह प्राचीनतर काल से प्रचलित है । तात्पर्य यह कि इन सातों दिवसों के नाम मनमाने तौर पर नहीं रखे गये हैं, बल्कि ये भूकेन्द्रक ज्योतिष की एक विशिष्ट मान्यता पर

आश्रित है । जिसके अनुसार पृथ्वी के शनि, गुरु आदि की स्थिति एक निश्चित क्रम में निर्दिष्ट है व्योम मंडल में एक स्तब्ध दृढ़ उर्ध्वमुखी तर्जनी है । पौराणिक कहते हैं कि यह तर्जनी ही विष्णु की तर्जनी है और ग्रह नक्षत्र युक्त तारामंडल ही काल का मापचक्र है । जिसकी अपर संज्ञा है सुदर्शन चक्र । भारतीय ज्योतिष और गणित में बहुत सी बातें बाहर से आकर जुड़ी हैं । सप्ताह की धारणा भी पश्चिम से आयी है । हिन्दू पंचांग में और दैनंदिन क्रिया कर्म में सप्ताह के स्थान पर स्थिति तथा पक्ष को महत्व दिया गया है । बाईबल के अनुसार ईश्वर ने सोमवार को सृष्टि रचना प्रारंभ की और शनिवार को अंतिम रचना, पुरुष-नारी रचकर रविवार को विश्राम किया । तभी से रविवार को ईसाई छुट्टी मनाते हैं और शनिवार को यहूदी । उपर से देखने पर तो सारे दिनों का चेहरा एक सा ही होता है । सूर्य रश्मि से इन सातों दिनों के चेहरे का रूपरंग पहचाना जा सकता है । इस निबंध के अतिरिक्त उन्होंने `मृगशिरा` और `रोहिणी` शीर्षक के आधार पर भी ज्योतिष विषयक निबंधों की रचना की है । मुकुलोदगम्` और उत्तरा फाल्गुनी के आसपास` शीर्षक निबंध में ज्योतिष शास्त्र के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं । `मृगशिरा`[६९] शीर्षक निबंधानुसार जेठ का अंतिम भाग है मृगशिरा का प्रारंभ । यह मृगशिरा अभी बाकी ही रहती है कि जेठ चला जाता है । रुद्र और प्रजापति में संधि हो जाती है । फिर आता है आषाढ़ जिसकी राशि है मिथुन । जेठ-असाढ़ी का काल मृगशिरा नक्षत्र का काल है । यही जेठ और असाढ़ दोनों में उभयनिष्ठ नक्षत्र है । मृग का मुंह जेठ में है और पूंछ है असाढ़ में । रात्रि के आकाश में पृथ्वी की दृष्टि माप के अनुसार खींची एक-गज लम्बी सीधी रेखा- में तीन तारागण साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। यही नक्षत्र मण्डल मृगशिरा है । इसमें पहली तारिका है मृगी रूप धारण किये हुए सावित्री। दूसरा तारा है मृगरूप कामासक्त प्रजापति और तीसरा तारा है धनुष पर बाण चढाये क्रुद्ध रुद्र ।

`रोहिणी मेघ`[७०] शीर्षक निबंध में रोहिणी ज्येष्ठ का नक्षत्र है। रोहिणी

के बाद कुछ खंडित रुद्रानी तेजगर्मी मृगशिरा नक्षत्र आता है । रोहिणी में ऋतु पुरुष का आगमन नहीं होता है केवल उसके घोड़े की हिनहिनाहट भर सुनी जाती है । रोहिणी बरसने के बाद आम पकने लगते हैं, गड्ढे पानी से भर जाते हैं । आकाश में एक चन्द्रलिंग नारी का आविर्भाव होता है यह औषधियों और रसों के स्वामी चन्द्रमा की वधू रोहिणी उदित हुई ऐसा कहते हैं । `मुकुलोद्गम`[७१] शीर्षक निबंध में शास्त्रानुसार वसन्त का प्रथम मास है चैत्रा । भारत और यूरोपियन देशों में भी चैत्र अर्थात् मार्च से ही ऋतुचक्र और संवत्सर चक्र का समारंभ मानते हैं । ईसाई पंचांग चालू होने के पूर्व यूरोप का भी प्रथम मास चैत्र अर्थात् मार्च ही था । ज्योतिष के अनुसार `मार्च` का अर्थ होगा मंगलमास या भौम मास । मार्च के बाद आता है अप्रैल। मार्च में जो ऋतु मुकुल के रूप में जन्मी थी, वह मुंह खोलकर प्रस्फुटित हो रही है, सम्पुटन मुक्त हो रही है । इसीलिए इसका नाम अप्रैल सार्थक ही है । इसके बाद मई यह ग्रीष्मकाल है । इसके बाद जून,जुलाई,अगस्त आदि मासों का नामकरण समझाया गया है ।`उत्तरा फाल्गुनी के आसपास` शीर्षक निबंध में वर्षा ऋतु की अंतिम नक्षत्र है । उत्तराफाल्गुनी । यह भाद्रपद का अंतिम नक्षत्र है । मनुष्य के लिए चालीस से पैंतालीस तक ~~अक~~ उत्तरा फाल्गुनी का काल है । मनुष्य के पूरे जीवन को इसी नक्षत्र के चित्रण से चित्रित किया है ।

विविध प्रकार के निबंध :

उपर्युक्त शीर्षकों के अंतर्गत जो निबंध समाविष्ट नहीं किये जा सकते, वे सभी निबंध इस शीर्षक के अंतर्गत रखे गए हैं । निबंधकार ने कुछ निबंध आत्म कथात्मक शैली में भी लिखे हैं । ये निबंध `मैं` की शैली में लिखे गये हैं ।`सिंह द्वारका कवि प्रेत`[७२] शीर्षक निबंध में कवि वशिष्ठ ने अपनी आत्मकथा लिखी है । वह अपने को सिंहद्वार का कवि कहता है । इतिहास में जब कभी युगान्त और युगजन्म का सम्मिलित कालतोरण तन जाता है तो उसकी तुलना वह समवयस्क महान रोमनों से करता है । जिनकी तलवार और कविता की धार पर चढ़कर सारी दुनिया लाल हो गयी थी । किसी भी जाति

के गौरव के रक्तकमल प्रस्फुटन क्षण देखने में अवर्णनीय आनंद कवि और इतिहासकार को आता है। वह प्रजातंत्र के अन्त और साम्राज्य के आरंभ का साथी कवि है। पर साथ ही अनजाने रूप से उस काल की एक अत्यन्त अज्ञात घटना का वह भविष्य वक्ता भी है। यह घटना थी सन् ४ ईसवी में जेरुसलम में एक जेसस नामक बच्चे का जन्म, जिसको कुछ वर्षों बाद एक रोमन मजिस्ट्रेट ने ही शूली पर चढ़ाया था। पर कौन जानता है कि मनुष्य का इतिहास ही इस घटना से एक ब जबरदस्त मोड़ ले लेगा ? पर संयोग की बात है कि ऐसा देव शिशु कवि की मृत्यु के कुछ पूर्व ही जन्म पा गया था और जेरूसलम में था। इसी एक पंक्ति के संदर्भ म के कारण ईसाई भी कवि को सिंहद्वार का कवि या 'कालतोरण का कवि' कहते थे। क्योंकि प्राचीन 'पैगन' संस्कृति और उत्तरकालीन ईसाई संस्कृति के मध्य बिंदु पर कवि को विधाता ने खड़ा कर दिया था। सज्जन पुरुष का एक बूंद आंसू सारे जीवन को धो-पोछकर पवित्र कर सकता है, जबकि दुर्जन सम्राटों, कमीने वजीरों और कुटिल प्रधानमंत्रियों की दी हुई स्वर्णराशि हमें आजीवन निरन्तर गहरे से गहरे पाप में डुबोती जाती है। उस युग का रोम कैसा था यह इतिहासों में नहीं मिलेगा। जब रोम महान है और सम्राट की जय हो की ध्वनि उठती थी तो कुछ दूसरा ही हो जाता था। हाथ में नंगी तलवार या माला लेकर रणभूमि की ओर बढ़नेवाला रोमनवीर इतिहास का सर्वश्रेष्ठ अनुशासित संयमी जीव बनकर सामने आता है रोमन ही एक जाति है जिसने हिन्दुओं की तरह ही स्नान को एक महत्वपूर्ण भोग के रूप में स्वीकारा है। उनका शरीर नित्य धुलकर निर्मल रहता था। यहां पर नायक (कवि) कह रहा है कि मैं भी युद्ध के दिनों मैंतल में तलवार पकड़ सकताथा, पर उनदिनों मेरे हाथ में कविता की वंशी थी। परंतु उसके पिता प्रजातंत्र के पक्ष पर लड़े। फलत: पराजय के बाद अन्य लोगों की तरह इन्हें भी संपत्ति से वंचित होना पड़ा। प्रजातंत्र अस्तांचल के उस पार चला गया। यह समय सीजर के चमकने का है और बुद्धिमानी है स्ल उगते सूर्य को पूजने में। इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं जब विरोध का दर्शन चाहे अपने में लाख सत्य हो, आत्मक्षय के सिवाय और कुछ नहीं लाता है। युगधर्म युग, मानस और इतिहास की गति के प्रतिकूल कोई सर्वोदय दर्शन,

देवोपम दर्शन एवं ऋतु और अमृत की शक्तियां सही से सही होने पर भी कमजोर और क्षयशील सिद्ध होती है । नायक का यही आत्म संघर्ष था, यही नैतिक ट्रैजेडी थी । उसका प्रथम काव्य संग्रह 'वनानी' या आरण्य की गोप काव्य है । ईसाई लेखकों ने इसे 'ईसामसीह' (जेसस) के आगमन की पूर्व सूचना मानकर ग्रहण किया है । और उसे इसी सन्दर्भ के कारण कृषि दृष्टि सम्पन्न कवि माना है। उसका दूसरा काव्य ग्रन्थ है- 'ग्राम्य जीवन'। महान रोम के मिथक की रचना में नायक ने अपने हृदय और बुद्धि के दीपकों को साथ-साथ जलाया और कर्म एवं श्रम के महाकाव्य की रचना की । यहां पर नायक होमर की तरह बर्बर आदिम सभ्यता की संतान नहीं रोम की विकसित संस्कृति का पुत्र था । जो ग्रीक दर्शन और कला के सर्वोच्च रस का पान करके पुष्ट हुई थी । होमर यदि यूरोपीय साहित्य का कवि पितामह एवं कवि व्याघ्र है तो नायक कविगुरु और कवि सुवर्ण यानी राजपक्षी है । एक ग्रीक प्रोषित पतिका का आत्मकथ्य[७३] शीर्षक निबंधानुसार पिनीलोपीया ग्रीक नायक ओधुवियस की पत्नी थी । इस आत्मकथ्य में पति के लौटने के पूर्व की स्थिति का चित्रण है । पीनिलोपिया प्रोषित पतिका है । प्रकृति वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसा लगता है मानो सारी पहाड़ी ही देवताओं की शय्या हो । यहां प्रति रात्रि को उस पार वाले एकांत ढाल पर जो तट की विषम कटान और क्रुद्ध तरंगों के निरंतर आक्रमण के कारण दिन में ही दुर्गम है । रति और उसका गुप्तचरम कार्तिकेय शयन करते हैं । नायिका को अपने वे दिन स्मरण हो आते हैं जब वह पिता के घर थी। वह कहती है, जब मैंने देवोपम ओधुवियस को प्रथम बार देखा तो लगा क्षणमात्र में भीतर सिर से पैर तक क्रोकस के पीत अरुण कुसुम्भी फूल खिल गये । बीस वर्षों से वह उस ओधुवियस की प्रतीक्षा कर रही है । नायिका की बाल्यावस्था को यहां पर चित्रित करते हुए बताया गया है कि बचपन में वह राजहंसी कहलाती थी। उसके पिता ने बचपन में उसे मनहूस मानकर समुद्र में फेंक दिया था । वह समुद्र की लहरों पर राजहंस पक्षियों द्वारा पालित हो रही है यह सुनकर उसके पिता का मन बदला और जाल डलवाकर निकाल लिया गया तबसे सभी उसे प्यार से राजहंसी या 'पिनीलोपी' कहने लगे । ग्रीकों में बहुमूल्य देकर वधू लाने

की परंपरा है । नायिका यहां कहती है मुझे द्वितीय बार स्वयं वरा बनना पडेगा, परन्तु शर्त में सर्वोच्च वधू मूल्य की शर्त नहीं, इस तरह तो दासपुत्रियां खरीदी जाती हैं । वह शर्त रखती है अपने वीर पति के धनुष को चढ़ाने की । जो मृत ओधुवियस के धनुष को चढ़ा सकेगा वही उसकी पत्नी को भी भोग सकेगा । ओधुपियस स्वभाव से ही अभिमानी था । वह इन्द्र और अपनी को छोड़कर अन्य सभी देवताओं का मजाक उड़ाया करता था । `यायावर रस`[७४] शीर्षक निबंध ओधुवियस की आत्मकथा है । आधुवियस की कठिनाईयों का इसमें वर्णन किया गया है । ओधुपियस के अनुसार महाकाव्य युग में नारी के प्रति हमारी रति लालसा मात्र थी। श्रद्धाप्रेरित रागबोध का, प्रिया के प्रति स्वामिनी भाव का- कामायनी-रति का अभी जन्म नहीं हुआ था। नारी के प्रति उनका रागबोध ऐन्द्रिक था। नारी मात्र `सरसी` है - मायाविनी है, ऐसा सभी मानते थे । नायक कहता है समुद्र की बाधाओं से लडते लडते हम वरुण के बेटे के द्वीप से जा टकराये, वहां उस एकाध भीमकाय न देवपुत्र ही आंख फोडकर हमने उसे अंधा कर दिया । नायक कहता है कि वसंत में हम आये थे । जबकि देवदारुओं की श्यामल छाया के नीचे वायु सुखद थी, फिर दुबारा वसंत आ गया और अंगूरों की लताएं रस से भर गयी । हवा बदली-मन बदला। यह हीरोइक युग था सच्चा हीरो रमणी-भोग के पाश में पडकर सुअर की तरह जीवन नहीं बिता सकता । ऐसे नारी प्रेम में कोई गरिमा नहीं है । इसाई और वैष्णव मानते थे कि आदमी कमजोर हो गया है और प्रणय भोग मरण की उपासना बन गया है ।

इसके अतिरिक्त कामधेनु` में संग्रहीत प्रबंधात्मक निबंध विविध निबंध की कोटि में आते हैं। और `गंधमादन` में संग्रहीत रिपोर्ताज दृष्टिजल,दृष्टि अभिषेक, कजरीबन में जीवहंस और`अनुचिन्तन, शीर्षक के अंतर्गत दिए गए तीन विचारात्मक निबंध `आधुनिकता : नयी और पुरानी`- आधुनिकता : अकर्म से कर्म की ओर, शिशुवेद तथा विषादयोग नामक संग्रह के अंतिम नौ विचारात्मक निबंध इसी विविध कोटि में रखे जा सकते हैं ।

भाषा शैली :

भावात्मक भाषा शैली :

निबंध की रचनात्मक या वैयक्तिक विशेषता उनके भावात्मक शैली के निबंधों में ही व्यक्त होती है। इसमेंवैयक्तिक अनुभवों,प्रतिक्रियाओं,संवेदनाओं का सहज वर्णन मिलता है । भावों की स्थिति, गति और सघनता के अनुसार भावात्मक निबंधों की तीन शैलियां देखी जाती है । धारा शैली विक्षेप या तरंग शैली और प्रलाप शैली- भावात्मक शैली में रागात्मकता की मुख्यता मिलती है । धारा शैली के अंतर्गत उत्तेजना देने की विशेषता नहीं रहती, वरन् भावानुभूति में रमण की विशेषता प्रधान रहती है ।किन्तु विक्षेप या तरंग शैली में- यह प्रवाह एक सा नहीं रहता,इसकी तीसरी शैली प्रलाप शैली है जिसमें भावावेश की चरमस्थिति दिखलायी देती है जिसके कारण भावधारा उच्छृंखल रूप में प्रकट होती है। लेखक इस दशा की- में व्याकुल या छटपटाहट का अनुभव करता है जिसके परिणाम स्वरूप भावों की अर्गल और विश्रृंखल अभिव्यक्ति होती है ।

इस शैली के निबंधों में भावों की सघन तीव्रता अपने चरम रूप में देखी जाती है । इस शैली का या तो बहुत तीखा प्रभाव पडता है, या फिर हास्यास्पद बन जाती है। हम कह सकते हैं कि भावात्मक निबंधों की प्रथम शैली ही संतुलित शैली है- उदाहरण के लिए-`करुणा किसी न किसी रूप में जीवन से संलग्न रहती है ।विषाद में सारे मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं । आधुनिक युग को हम विषाद का युग कह सकते हैं अतीत की भूमि मनुष्य के पैरों के नीचे से खिसक गयी उसका स्वयं भी उससे अजनबी हो गया, तो फिर वह किसका स्नेह स्पर्श, किसका बल पाकर इतना भार उठावे ? इस विकट स्थिति का निराकरण भी है क्या ?`[७५] यहां पर करुणा और विषाद की भावमय स्थिति दी गई है । ये दोनों अवस्थाएं करुणा और विषाद मनुष्य के जीवन से सम्बंधित रहती है। मनुष्य का यह करुण भाव`दया` को प्रकट करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सभी पशुओं में वह श्रेष्ठतम या उत्तमकोटि

का बुद्धिशाली प्राणी है। वह किसी भी दु:खावस्था में यह करुण भाव प्रदर्शित करने की क्षमता रखता है। जिसको अन्य प्राणी नहीं प्रकट कर पाते। इसके बाद में विषाद भाव आज के आधुनिक युग का भाव कहा गया है। जब मनुष्य अपना अतीत या भूतकाल भूल जाता है वह भूल जाता है कि 'मैं' पहले क्या था? और वर्तमान एक अजनबी बनकर, जिन्दा रहता है, मगर उसके भूतकालीन मन की छाप वर्तमान में भी मौजूद होने के कारण एक तरह से विषाद का अनुभव करता ही है। इसी विषाद भाव को किस तरह दूर किया जाता है यही समस्या बनी रहती है। आगे और भाव का चित्रण हुआ है जैसे कि- 'क्रोध से बूढ़ा जवान हो जाता है, क्रोध ही जरा-मरण से मुक्ति दिलायेगा। क्रोध आने पर बूढ़ा जवान हो जाता है और जवान हो जाता है हैवान।'[७६] यहां पर मनुष्य की तीसरी भावावस्था को वर्णित करते हुए बताया गया है कि क्रोध ही मनुष्य की अंतिम भावावस्था है। यह क्रोध मनुष्य के जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है। इतना ही नहीं उसे कहीं का भी नहीं रखता। जब कोई बूढ़े आदमी को क्रोध आता है तो इसका क्रोध इतनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है कि उसकी मुखमुद्रा हावभाव आदि जवानों की तरह बन जाती है, यह क्रोध की और असर भी बतायी है कि क्रोध जरा-मरण से मुक्ति दिलायगा। क्रोध आने पर जवान हैवान यानी राक्षस भी बन जाता है, जवानों का क्रोध ज्यादा होता है तब ऐसी अवस्था आती है। आगे उदाहरण जैसे-'बाहर घुप्प अन्धकार है ऐसा लगता है- सारे अस्तित्व समाप्त हो गये हैं लगता है अपनी धरती नहीं रही। अपना आसमान नहीं रहा, अपना वह कालप्रवाह भी नहीं रहा। जिसमें जीने का आदेश प्रभु ने अस्त होने के पूर्व दिया था चारों ओर भय छाया हुआ है।'[७७] यहां पर अंधकार का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इस अन्धकार से ऐसा लगता है मानो सारे अस्तित्व समाप्त हो गये हैं। इतना ही नहीं यहां पर कालरूपी अंधकार भी प्रदर्शित है, इस अंधकार में धरती और आसमान भी पराया बन गया लगता है, कालप्रवाह भी बदल गया है। जिसमें चारों ओर भय ही भय दीखता है। 'शशक अर्थात् खरगोश सब सदैव प्यारे

लगते हैं। उनका गोल मुख, उनके लाल होंठ, उनकी टुकुर-टुकुर ताकती आंखें जनमतुआ मानव शिशु के चेहरे सा जैसा निष्पाप और सरल लगता है ।[७८] खरगोश का वर्णन करते हुए उसकी मनुष्य से तुलना की है । खरगोश का गोल मुख होता है, होंठ लाल और उनकी आंखें निर्दोष, कोई मानव शिशु के चेहरे सा वह निष्पाप होता है, वैसे खरगोश क बड़े सुन्दर भी रहते हैं यहां निबंधकार ने भावात्मक चित्रण किया है जो आंखों से निर्दोष और चेहरे से बच्चों सा भोला नजर आता है ।

वर्णनात्मक भाषा शैली :

वर्णनात्मक निबंध वे निबंध हैं जिनमें निबंध की ललित, स्वच्छन्द, रोचक शैली में किसी घटना, किसी वस्तु या पदार्थ अथवा किसी स्थान का वर्णन होता है। वर्णनात्मक निबंध वस्तु, पदार्थ आदि का वर्तमान प्रत्यक्ष या व्यतीत दृश्य के रूप में किसी भी प्रकार से वर्णन कर सकता है । परन्तु वर्णन शैली प्राय: दोनों की एक रहती है । वस्तु, पदार्थ या दृश्य को देखकर लेखक के मन में जो प्रतिक्रियाएं होती हैं अथवा जो कल्पनाएं उठती हैं उन सबका वर्णन वह अपने निबंधों में करता है । इसके अतिरिक्त संस्कृति के वर्णन भी किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए जैसे-`निशाथ` रात्रि की मध्य स्थिति का द्योतक शब्द है और इसका अनुभव हमें एक अतलता का स्वाद दे जाता है । माघ रात्रि में चारों ओर वातावरण में निशीथ की अतल गहराई रहती है जिसमें एक नशा, एक चुपचुप स्पर्शमय अनुभव, एक आंखें मूंद जानेवाला स्वाद ओरछोर व्याप्त रहता है ।[७९] माघ मास की रात्रि का वर्णन करते हुए रात्रि के मध्य भाग को `निशीथ` शब्द दिया गया है । इस रात्रि के वातावरण में चारों ओर एक नशा सा छाया रहता है, ठण्डी हवा से मनुष्य की आंखों में निंद्रा का नशा व्याप्त रहता है । आगे का उदाहरण है जैसे कि-`वर्षा ऋतु में तो प्रकृति खुले आम ढोल -मजीरा बजाती है । ऊपर `महिषोघर नीले-आकाश, नीचे `शुकोदर हरित` धरती, चारों ओर महामहीरूहों के धुले हुए भूत की तरह काले-काले तने, हरे हरे कचनार पत्ते,

कहीं-कहीं लगे वक्षों जल के उपर संकेतपूर्ण लुल-लुप करती हुई हरी घास की फुनगी, पर न कहीं भय है और न कहीं गोपनीयता है।[80] वर्षा की प्रकृति का वर्णन उक्त पंक्तियों में मिलता है, धरती और आकाश दोनों की स्थिति चित्रित की गई है। इस ऋतु में जगह जगह पर हमें हरे-हरे कचनार के पत्ते, हरीघास नजर आती है मगर इनमें कहीं भी भय का भाव देखने को नहीं मिलता। वातावरण में गोपनीयता भी नहीं है। आगे उदाहरण है-`जैसे मन के ऋतु परिवर्तन में असली चीज है मनोभाव वैसे ही धरती के ऋतु परिवर्तन में असल वस्तु है हवा का स्वभाव और उत्तरा फाल्गुनी की हवा का स्वभाव गान गन्ध, मान-मनुहार की दृष्टि से पावस से अनुरक्त है। इसमें वर्षा खूब झड़ तूफान के साथ होती है। हस्ता अवश्य ही शुद्ध: शरदकाल है।[81] यहां पर बताया गया है कि जिस तरह मनुष्य के मन के परिवर्तन में मनोभाव ही मूलकेन्द्र है वैसे ही यहां पर धरती के ऋतु परिवर्तन में हवा को महत्व दिया गया है। ऋतु के अनुसार वातावरण की हवा भी बदलती ही रहती है। उत्तरा फाल्गुनी की हवा पावस से अनुरक्त बताई गई है। इसमें वर्षा ज्यादा तूफान मचाती है, जबकि हस्ता नक्षत्र को शरदकाल कहा गया है।

विवरणात्मक भाषा शैली :

समय की प्रगति कालक्रम के रूप में और स्थान की प्रगति यात्रा आदि के रूप में देखी जाती है। विवरणात्मक निबंधों का एक रूप संस्मरण में भी मिलता है। इसमें किसी भी काल काल, वस्तुओं, और घटनाओं का विवरण इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि आंखों के सामने वे साक्षात खड़ी हो जाय। इतना ही नहीं इनमें प्राकृतिक दृश्यों, पर्वतमालाओं आदि का भी विवरण हमें मिलता है -उदाहरण के लिये `आक्षी का पेड़ उसकी आकृति सादे आसमान की पृष्ठभूमि पर ऊंटनुमा प्रेतयान की तरह लगती है। रात के सन्नाटे में यह इन्द्रजाल बदलता सा ज्ञात होता है और उक्त छाया बिम्ब `सिल्यूएट` में नया अर्थ जन्म लेता है गोया एक कमर झुकी वृद्धा खड़ी हो।[82] यहां पर आक्षी के पेड़ का विवरण करते हुए कुबेरनाथ जी ने इसकी तुलना एक कमर झुकी वृद्धा से की है। इतना ही नहीं उसकी आकृति को ऊंटनुमा

प्रेतयान कहा है। रात के घने अंधकार में, शांत भयावह वातावरण में वह एक और नया आकार ग्रहण करती है गोया कमर झुकी वृद्धा हो। इस वृक्ष की ऊंचाई आसमान को छूती है, ऊंट की तरह लम्बी इसकी आकृति होती है। आगे के उदाहरण में मनुष्य के जीवन के कुछ भाग चित्रित हैं- 'तीसोत्तर दशक जीवन का घनघोर कुरुक्षेत्र है, यह काल गदहपचीसी के विपरीत एक क्षुरधार काल है। जिस पर चढ़कर पुरुष या नारी अपने को आविष्कृत करते हैं अपने मर्म और धर्म के प्रति अपने को सत्य करते हैं तथा अपनी अस्तित्वगत महिमा उद्घाटित करते हैं। चालीसा लगने के बाद पैंतालीस तक यथास्थिति उत्तरा फाल्गुनी चलती है।[८३] तीसवें दशक को घनघोर कुरुक्षेत्र का काल कहा गया है। जो क्षुरधार काल है, इस काल में मनुष्य अपने मर्म को पूरा करके रहता है और अपनी अस्तित्वगत महिमा को भी इसी काल में फैलाता है। इसी उम्र में वह अपनी पूरी ताकात लड़ाकर कुछ पाना चाहता है। अपने ध्येय पर अडिग रहता है और कुछ को वह हासिल करके ही रहता है और चालीस से पैंतालीस तक का का उसके लिए यथास्थिति का काल रहता है। यह उसका उत्तरा फाल्गुनी का काल कहा जाता है। 'इतिहास का पथ एक रैखिक है, गति चक्रीय है, और अतीत के अच्छे या बुरे मूल्य आकृति बदलकर बारबार प्रकट होते हैं। प्राचीन आदिम समाज में लोकतंत्र था, फिर आज लोकतंत्र लौट आया है, परन्तु वर्तमान अर्थ व्यवस्था, उत्पादन उत्पादन पद्धति, समाज व्यवस्था और भोगायतन को पुन: आदिम समाज की ओर ठेला नहीं जा सकता।'[८४] यहां पर इतिहास की बात कही गई है। इतिहास में घटनाओं का एक धारा क्रम चलता ही रहता है, इसमें अतीत के प्रसंग अलग-अलग रूप में प्रदर्शित कर होते हैं। इतिहास की प्राचीन समाज व्यवस्था में लोकतंत्र भी था जो आज वर्तमान में भी है। प्राचीन घटनाएं जिस तरह से वर्तमान में अपना अलग रूप लेकर आती है वैसे वर्तमान प्राचीन की ओर कदापि नहीं दौड़ेगा। अर्थात् जो उत्पादन पद्धति है, वर्तमान की जो समाज व्यवस्था है वह वहीं की वहीं ही रहती है, प्राचीनता की ओर नहीं जा सकती। 'कृष्ण राजा नहीं थे, यादवों का शासन तंत्र गणतांत्रिक था एक जमाना था कि जिसकी लाठी उसकी भैंस, पर आज का हिन्दुस्तान दो कदम

और धंस गया है, और आज है जिसकी लाठी उसकी भैंस के साथ गरीब भैंसवाला भी ।[८५] प्राचीन समय में यादवों का शासनतंत्र गणतांत्रिक था, जिसकी लाठी उसकी भैंस यह उस समय का आदर्श था, यानी की ताकतवर आदमी अपनी ताकत करे से सबकुछ पा लेता था। शासकों ज्यादा से ज्यादा बोझ गरीबों, मध्यमवर्ग पर डालते थे यादव शासकों ज्यादा आपखुदी, और शोषक थे । जो गरीबों से उनकी रोटी छीन लेते थे ।

विचारात्मक भाषा शैली :

रचना का सूत्र कोई विचार होता है। परन्तु उस विचार को अभिव्यक्ति देने के लिए निबंध का लालित्य और सौष्ठव अपेक्षित होता है । विचार प्रधान होते हुए भी उनकी विशेषता रचनात्मकता में है, काव्य के तत्वों का समावेश इन निबंधों में रहता है । विचारात्मक शैली का मुख्य आधार विचार ही है । इस शैली की विशेषता है बौद्धिक विवेचन की अधिकता । उदाहरण के लिए जैसे कि-"समाज और शासन में शब्दों के व्यूह के पीछे एक कपट पाला जा रहा है । परंतु न तो यह क्रान्ति है और न समर, शासन और व्यवस्था के पुतलीघरों की मशीन कन्याएं उनकी बूढ़ी उंगलियों के सूत्र संचालन से ऊब गयी है और उनकी गति में रह-रहकर छन्द पतन हो रहा है ।[८६] समाज और शासन की बात कही गयी है इतना ही नहीं इसके द्वारा आज के समाज एवं शासन का चित्रण भी हुआ है, एक समाजसेवी और शासक समाज को एवं शासन को उन्नत करने के लिए कहते हैं लेकिन वे न तो उनकी उन्नति करने के लिए कुछ कार्य कर रहे हैं न तो मेहनत, जिस तरह हाथी के दिखावे के दांत होते हैं ठीक वैसे ही उनका भी रहता है वे बोलते कहीं हैं और आचरते भी कहीं हैं । उनको तो बिना मेहनत किए सब कुछ नया ही अच्छा लगता है, उनकी काम करने की पद्धति से व्यवस्था में गड़बड़ी हो रही है । दूसरे उदाहरण में नशे के बारे में बताते हुए कहा है कि-सृष्टि में एक अजीब सी बात है कि नशा और विषातन में ही रहता है । रक्त शिराओं और स्नायु जल के भीतर पलता है और तन की आभा को भीतर से प्रकाशित

करता है-परंतु हृदय के देह पुण्डरीक में विष नहीं होता है उसमें तो जीवन के असंख्य दाने भरे पड़े रहते हैं। पोस्ते की कली में भी यही बात है'[८७]। इस उदाहरण में बताया है कि नशा और विष तन में ही रहता है और रक्त शिराओं और स्नायुजल के भीतर पलता है यानी हर एक चीज अपनी जगह पर ही स्थायी रहती है, उनके स्थान बदलने से उल्टा-~~सुई~~ सुल्टा हो जाता है। मनुष्य के भीतर अनेक आशाएं भरी हुई रहती हैं। उसमें विष नहीं रहता- मगर उसमें तो जीवन की असंख्य इच्छाएं अनुभूतियां पड़ी हुई होती है। जिस तरह पोस्ते की कली में होता है। ठीक वैसे ही मनुष्य हृदय में भी। 'अतीत दु:ख का कर्ता है, भविष्य दु:ख का दाता है। वर्तमान केवल वर्तमान ही, एकमात्र निर्भर योग्य सत्ता है। पर यह भी कालप्रवाह की एक बूंद है जिसकी अपनी कोई दिशा नहीं, जो नियति की अंगुलि निर्देश से प्रेरित होकर एक विशेष दिशा की ओर बहता चलता है।'[८८] यहां पर काल के बारे में निबंधकार ने अपने विचार प्रदर्शित किए हैं अतीत को दु:ख का कर्ता कहा है, भविष्य को दु:ख का दाता, जबकि वर्तमान को निर्भर योग्य सत्ता कहा गया है। ये तीनों काल अतीत, भविष्य और वर्तमान नियति की दिशा सूझ से ही बदलते हैं, अपनी दिशा में नहीं।

हास्य-व्यंग्य भाषा शैली :

श्री कुबेरनाथ राय जी के निबंधों में जहां एक ओर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के उद्धरण तथा मिथकीय कथाओं के ~~न~~ नूतन संदर्भ हैं तो दूसरी ओर यूरोपीय साहित्य और विशेषत: अंग्रेजी साहित्य में आये हुए संदर्भों की ओर भी इंगित किया है। कहीं-कहीं इनके निबंधों में बड़ा पैना और शिष्ट व्यंग्य है जो हमारी वर्तमान स्थिति का पर्दाफाश करता है। उनके निबंधों में हास्य-व्यंग्य अनेक विषयों को अनुलक्षित करके किया गया है जैसे कि ~~धार्मिक~~ धार्मिक, साहित्यिक, प्राकृतिक एवं अन्य विषयों पर है। इतना ही नहीं वे बड़े-बड़े धर्मगुरुओं, साहित्यिकों को भी व्यंग्य करने में हिचकते नहीं है। उदाहरण यहां पर प्रस्तुत है जैसे कि- 'जब जब इस देश में अकाल और सूखा पड़ता है, आचार्य श्री लोगों द्वारा वैष्णव यज्ञ धूमधाम से सारे देश

में कराया जाता है । एक ओर एक मुट्ठी अन्न के अभाव में बच्चे छटपटाकर मरते हैं । जीवन हाहाकार करके प्राण त्याग करता है, तो दूसरी ओर धनीघोरियों के पैसे के बल पर अविद्या की अग्नि अग्नि हाहाकार करके जलती है अन्न आर्तनाद करके ज्वाला का वरण करता है एवं इस वर्ग की पांचों उंगलियां घी में रहती है ।'[८९]

धार्मिक धनियों पर व्यंग्य है, जब देश में अकाल और सूखा पडता है तब वैष्णव आचार्यों द्वारा यज्ञ कियाजाता है। इस यज्ञ बड़ी धामधूम के साथ होता है जिसमें एक ओर अन्न की बलि यज्ञ की ज्वाला में दी जाती है, दूसरी ओर गरीबों को जहां खाने के लिए मुट्ठी भर अन्न भी नहीं मिलता वे अपनी भूख प्यास मिटाने के लिए घर-घर भटकते फिरते हैं । अन्त में मृत्यु की शरण लेते हैं । ऐसे समय में धनी धार्मिकों के यज्ञ, यज्ञ नहीं बल्कि अविद्या कहा जाता है । इन धनियों को अग्नि में डालने के लिए अन्न के दाने की कोई कीमत नहीं, जबकि इन गरीबों को वे मुट्ठी अन्न देने के लिए हिचकते हैं ।उन्हीं लोगों के पैसे के बल पर अन्न आर्तनाद से ज्वाला का वरण करता है। निबंधकार ने यहां पर ऐसे वैष्णव आचार्यों पर अपने व्यंग्य का चाबखा मारा है जो धर्म के नाम पर अन्न की खुवारी करते हैं । आगे उदाहरण है जैसे कि-'कम से कम लोकतंत्र के सन्दर्भ में जो आज के कि व्यक्ति तगत और सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है इसकी समष्टिगत अनुभूति और अनुभूतिगत ईमानदारी से इन्कार नहीं किया जा सकता । ऐसे परिवेश में भारतीय बुद्धिजीवी कुर्सी, सोना,ताड़-खजूर को उस अक्खड ढंग से, उस आत्म विश्वास से जो कबीर तुलसी में है ललकार नहीं सकता- वे जबान से ललकार भी दें तो उसे अपने जीवन में उतार नहीं सकता और जिस जबान के पीछे जीवन का सबूत नहीं, वह जबान कौड़ी का तीन है उसकी सार्थकता नहीं ।'[९०] हमारे यहां लोकतंत्र के रहते हुए भी समाज का बुद्धिजीवी वर्ग कुर्सी,सोना, ताड़-खजूर को कबीर और तुलसी की तरह आत्मविश्वास से ललकार नहीं सकता ।इतना ही नहीं इसे अपने जीवन में उतार भी नहीं सकता । उसकी ऐसी जबान की कोई कीमत नहीं जिस जबान का जीवन में कोई सबूत नहीं होता । ऐसी जबान कौड़ी की तीन रहती है ।

उपसंहार :

श्री कुबेरनाथ राय के निबंधोंका अध्ययन करने से निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि उन्होंने हिन्दी निबंधों की इस उपधारा को सबसे अधिक समृद्ध किया है। यदि अकेले कुबेरनाथ जी को हिन्दी ललित निबंध परंपरा से हटा दें- तो एक बहुत बड़ा अभाव सा लगता है । अपने लेखन के द्वारा उन्होंने ललित निबंधों को अलग-अलग दिशाओं में समृद्ध किया है । उनके निबंध संस्मरण प्रकार के होते हुए भी गंभीर हैं। उन्होंने अपने निबंधों में लोक संस्कृति के बहुआयामीय परिवेश को उजागर किया है । पुरातत्व और इतिहास पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रकृति वर्णन में प्रकृति को जीवन्त रूप प्रदान किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने निबंधों में 'विश्व साहित्य' और विश्व दर्शन के संदर्भों को भी लिखा है और समसामयिक साहित्य के अनेक प्रश्नों पर भी विचार किया है । उनके शिल्पपक्ष में शैली की अनेक विशेषताएं देखने को मिलती है उन्होंने काव्यात्मक,ललित पदावली युक्त भाषा का प्रयोग अपने निबंधों में किए हैं ।लम्बी या संश्लिष्ट वाक्य रचना का प्रयोग और अलग-अलग शैलियों के प्रयोग से निबंध जैसी शुष्क विधा का श्रृंगार किया है । उनके निबंधों के शीर्षक विचित्रता लिए हुए हैं । विचारों को प्रस्तुत करने का भी अनूठा ढंग है । उन्होंने निबंध जैसी विधा को इतनी कलात्मकता प्रदान की है कि इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए-वह कम है ।

--

सन्दर्भ ग्रन्थ

१- प्रिया नीलकंठी	कुबेरनाथराय	पृ० ६३
२- विषाद योग	,,	पृ० ४८
३- पर्णमुकुट	,,	पृ० १४८
४- वही-	,,	पृ०११५
५- गंधमादन	,,	पृ०१७८
६- रस आखेटक	,,	पृ० ६६
७- वही-	,,	पृ० १५५
८- निषाद बांसुरी	,,	पृ० ८७
९- विषाद योग	,,	पृ०२९
१०- निषाद बांसुरी	,,	पृ० १८४
११- वही-	,,	पृ० ११५
१२- वही-	,,	पृ०७४
१३- वही-	,,	पृ० २६
१४- वही-	,,	पृ० ७
१५- गंदमादन	,,	पृ० २७
१६- वही-	,,	पृ०१६१
१७- ~~नि~~ वही-	,,	पृ०१७
१८- निषाद बांसुरी	,,	पृ० १२६
१९- विषाद योग	,,	पृ० २२
२०- निषाद बांसुरी	,,	पृ० १५७
२१- पर्णमुकुट	,,	पृ० १६३
२२- निषाद बांसुरी	,,	पृ० ३३
२३- प्रिया नीलकंठी	,,	पृ० १२६
२४- गंधमादन	,,	पृ०११०
२५- निषाद बांसुरी	,,	पृ० ६२

२६-	पर्णमुकुट	कुबेरनाथराय	पृ० ६६
२७-	वही-	,,	पृ० ८४
२८-	गंधमादन	,,	पृ० ७
२९-	रसआखेटक	,,	पृ० १०८
३०-	वही-	,,	पृ० १६६
३१-	पर्णमुकुट	,,	पृ० ३७
३२-	एक महाश्वेता रात्रि-रसआखेटक	,,	पृ० १२२
३३-	हरी हरी दूब और लाचार क्रोध-	,,	पृ० १८५
३४-	रस आखेटक	,,	पृ० २०९
३५-	विषाद योग	,,	पृ० ७४
३६-	रस आखेटक	,,	पृ० २२५
३७-	कवि तेरा भोर आ गया- रस आखेटक	,,	पृ० २३२
३८-	रस आखेटक	,,	पृ० १८८
३९-	वही-	,,	पृ० १९८
४०-	वही-	,,	पृ० २७८
४१-	गंधमादन	,,	पृ० ५३
४२-	पुनः हिंसा की संध्या-पर्णमुकुट	,,	पृ० २१०
४३-	प्रिया नीलकंठी	,,	पृ० ५
४४-	वही-	,,	पृ० २४
४५-	वही-	,,	पृ० ५३
४६-	वही-	,,	पृ० ७१
४७-	पर्णमुकुट	,,	पृ० ५७
४८-	वही-	,,	पृ० ९१
४९-	गंधमादन	,,	पृ० ८६
५०-	जन्मांतर के भ्रू सोपान- रस आखेटक	,,	पृ० ८३

५१-	जन्मांतर के भ्रम सोपान-रस आखेटक-	कुबेरनाथराय	पृ० ८३
५२-	रस आखेटक	कुबेरनाथराय	पृ० ४६
५३-	गंधमादन	,,	पृ०७५
५४-	विषादयोग	,,	पृ० ५७
५५-	वही-	,,	पृ० १२
५६-	निषाद बांसुरी	,,	पृ० ४६
५७-	विषादयोग	,,	पृ० ३
५८-	निषाद बांसुरी	,,	पृ० १७५
५९-	वही-	,,	पृ० १७
६०-	गंधमादन	,,	पृ० ६८
६१-	निषाद बांसुरी	,,	पृ० १३५
६२-	प्रिया नीलकंठी	,,	पृ० ११५
६३-	विषाद योग	,,	पृ० ४२
६४-	पर्णमुकुट	,,	पृ० ७३
६५-	गंधमादन	,,	पृ० १४८
६६-	रस आखेटक	,,	पृ० २७८
६७-	पर्णमुकुट	,,	पृ० १०४
६८-	वही-	,,	पृ० १७०
६९-	रस आखेटक	,,	पृ० ६१
७०-	वही-	,,	पृ० १०५
७१-	विषाद योग	,,	पृ० ३
७२-	रस आखेटक	,,	पृ० २५५
७३-	प्रियानीलकंठी	,,	पृ० १४३
७४-	वही-	,,	पृ० १५५
७५-	हेमंत की संध्या-प्रिया नीलकंठी	,,	पृ० ५

७६- मधुमाधव पुनः पुनः पर्णमुकुट कुबेरनाथराय पृ० १६
७७- आठी का पेड़ पैशाची जरथुस्त्र और
मैं- प्रिया नीलकंठी कुबेरनाथराय पृ०५६
७८- ईस्टर मधुमय ईस्टर-पर्णमुकुट ,, पृ०१४६
७६- जन्मांतर के धूम्र सोपान-रस आलोक-कुबेरनाथराय पृ० ७६
८०- मेघमण्डूक और आदिम मन-विषादयोग-कुबेरनाथराय पृ०५८
८१- चित्र विचित्र-गंधमादन कुबेरनाथराय पृ०६७
८२- आछी का पेड-पैशाची गरथुस्त्र और मैं-कुबेरनाथराय पृ०५३
८३- उत्तरा फाल्गुनी के आसपास-विषादयोग-कुबेरनाथराय पृ०१४
८४- घोडे घोडे अरुण वर्ण घोडे-पर्णमुकुट-कुबेरनाथराय पृ०१३०
८५- वेणु की चक्र-रस आखेटक कुबेरनाथराय पृ० १६४
८६- उत्तरा फाल्गुनी के आसपास-विषादयोग-कुबेरनाथराय पृ० १८
८७- तृषा तृषा अमृत वर्षा-रस आखेटक-कुबेरनाथराय पृ०५०
८८- एक प्रति तीर्थंकर की यात्रा-पर्णमुकुट-कुबेरनाथराय पृ०१६३
८६- सभी वृक्ष पर लटकते शव-प्रिया नीलकण्ठी-कुबेरनाथराय पृ०१८३
६०- हरी हरी दूब और लाचार क्रोध-रस आखेटक-कुबेरनाथराय पृ० १८५